मेरे निबन्ध

—जीवन और जगत

● प्रकाशक
श्री रामप्रसाद अग्रवाल
बी. ए., एल-एल. बी.
गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा

● लेखक
डॉ० गुलाबराय
एम. ए., डी-लिट्.

● मुद्रक
श्री जगदीशप्रसाद
एम. ए., बी. कॉम
दी एज्यूकेशनल प्रेस, आगरा

● प्रथमावृत्ति
जनवरी, १९५५

● द्वितीयावृत्ति
फरवरी, १९५८

● मूल्य ५.००

समर्पण

जिसके मोहक मृग-मरीचिकामय मायाजाल के वशीभूत हो
हितचिन्तक डाक्टरो के सत्परामर्श के विरुद्ध भी मैंने
अपनी लेखनी को यन्त्रारूढवत् गतिशील रखा,
जिसने मुझे अनेको रात विश्रामदायिनी निद्रा देवी की
मधुमयी सुखद क्रोड से वञ्चित रखकर मेरे शरीर को जीर्ण, जर्जर
और शिथिलाङ्ग बना दिया और जिसको छोडना
चाह कर भी मै न छोड़ सका, उसी
चाही-अनचाही चिरसङ्गिनी लोक-एषणा को

तथा

परस्पर विपरीत पथगामी डाक्टरद्वय
नगेन्द्र और रामविलास शर्मा, एव उभयश्री चिरजीलाल एकाकी
और गोपालप्रसाद व्यास को, जिनके श्रद्धापूर्ण साधुवादो
से प्रेरित हो मैंने इन निबन्धो का सूम के
धन की भाँति सग्रह किया,
स्नेहमयी कृतज्ञता के साथ
समर्पित

परिचायिका

प्राचीन काल मे प्रायः कवि और नाटककार अपनी कृति के आरम्भ मे स्वय अपना तथा अपनी रचना का परिचय दे देते थे। यदि मैं भी उस प्रथा का पालन करूँ तो कम से कम मेरे प्राचीनतावादी मित्र, जो लकीर के फकीर कहलाने मे अपना गौरव समझते है, मुझे अधिक पथभ्रष्ट न समझेंगे। कालिदास, भवभूति और पण्डितराज के उदाहरण उनके सामने है। मै इस बात मे जायसी के शब्दो मे 'पण्डितनकेर पछलगा' होने का श्रेय प्राप्त कर लेना चाहता हूँ।

'अङ्ग गलित' का तो ईश्वर की दया से नही, किन्तु 'पलित मुण्ड' का अवश्य और 'दशनविहीन जात तुण्डम्' की पचास प्रतिशत से कुछ अधिक सफलता का प्रमाणपत्र प्राप्त कर चुका हूं। मै सरसठ शरद् देख चुका हूँ। मेरे बाल सफेद हो गए है, किन्तु धूप मे नही वरन् शारदोय शुभ्रता देखते-देखते। वैसे तो मैंने जीवनोपवन की 'सघन कुज छाया सुखद' और 'सीतल मद समीर' मे ही विचरण किया है, फिर भी मैं जीवन की धूप से अपरिचित नही हूँ, और जितना समय धूप मे बिताया है उसका मुझे गर्व है। मेरे पैर मे बिवाई फट चुकी है और मैं पराई पीर भी जानता हूँ। मै उन लोगो मे से हूँ जो फूंक-फूंककर पैर रखते है और उन लोगो मे से नही हूँ जिनसे 'साहस सकुच मानत।' किन्तु कभी-कभी विचार के शैल-शिखरो पर चढने का प्रयास किया है और कभी-कभी फिसलकर गिरा भी हूँ। मैं भूला हूँ, और ठोकरे भी खाई है, किन्तु गिरकर उठा अवश्य हूँ। सुबह का भूला शाम को घर वापस आ गया हूँ।

जीवन के इस धूपछाही अनुभव की पूर्ति मैने अध्ययन से की है। उसमे अपने चिन्तन का रस भी मिलाया और साथ ही शैली का नमक-मसाला भी। इसी के फलस्वरूप मैं आपकी सेवा मे अपने अड़सठवे जन्म दिवस पर 'मेरे निबन्ध—जीवन और जगत' शीर्षक अपनी पुस्तक भेट कर रहा हूँ। इन निबन्धो मे जीवन और जगत से प्राप्त अनुभूतियाँ है और उन पर मेरी शैली और उसमे व्यक्त होने वाले व्यक्तित्व की छाप है। यही पुस्तक के शीर्षक की सार्थकता है।

आज का हिन्दी निबन्ध-साहित्य अधिकाश मे आलोचना की ओर दौड़ा जा रहा है। आजकल आचार्यत्व की चाह रीतिकाल से भी कुछ बढी-चढी है, किन्तु उस प्रवाह मे लिखे हुए निबन्धों मे विषयगतता कुछ अधिक है। हमारे लेखको को जीवन के लहराते सागर की ओर दृष्टिपात करने का कम अवकाश मिलता दिखाई पडता है। वे गम्भीर अधिक है। जीवन और जगत के सम्बन्ध मे हमारे साहित्यिक विचारात्मक साहित्य कम दे सके है; उन्होने साहित्य पर ही अपनी विचारात्मक दृष्टि केन्द्रित रखी है। जिन्होंने विचारात्मक साहित्य दिया है वे उससे भाराक्रान्त से प्रतीत होते है। उन्होने जीवन को खेलकूद की अथवा जीवनोल्लास की प्रसन्नता के साथ नहीं देखा। वे न स्वय हँसे हे और न उन्होने दूसरो को हँसाने का प्रयत्न किया है। मै दम घुटने वाले गहरे पानी मे नही पैठा हूँ और न भूलभुलैयो मे पड़ा हूँ। इसीलिए परेशान नही हुआ हूँ। जो सहज मे बन आया वही लिखा और दूसरो को भी अपने साथ हँसाने का प्रयत्न किया।

इन निबन्धो मे विविध क्षेत्रों—जैसे, व्यापार, मनोविज्ञान, कर्तव्य और आचार, राजनीति आदि—का पर्यवेक्षण है। इनसे पाठको की कहाँ तक ज्ञानवृद्धि होगी यह मै नही कह सकता, किन्तु कुछ मनोरंजन अवश्य होगा और शायद जीवन के भार मे भी वे कुछ हल्कापन अनुभव करे। यह तो मेरा दावा नही कि मैं बिलकुल विषयगतता से बचा हूँ, किन्तु इन निबन्धों मे शैली का निजीपन अधिक है और वे इस कारण अपना निबन्ध होना सार्थक करते है। इसी निजीपन के कारण 'मेरे निबन्ध' शीर्षक मे 'मेरे' शब्द की सार्थकता है।

साहित्य मे मेरे दो रूप हे—आलोचक और निबन्धकार। आलोचना के क्षेत्र मे मुझे यह कहना पडेगा कि मै नवीनो के साथ कदम मिलाकर नही चल सका हूँ। मैं कुछ पिछडेपन का अनुभव करता हूँ। किन्तु जहाँ तक मौलिक सिद्धान्तो की व्याख्या का प्रश्न है, मै अपने को किसी से पीछे नहीं पाता। निबन्धो की शैली मेरी है और उस पर मुझे गर्व भी है। मै अपने निबन्धों मे अपेक्षाकृत वैज्ञानिक और विषयगत होते हुए भी उनकी साहित्यिकता को अक्षुण्ण रख सका हूँ, यही मेरे लेखन की विशेषता है।

यह निबन्ध अखबारों मे छपे अवश्य है, किन्तु उनकी भस्मासुर की सी जठराग्नि की पूर्ति के लिए नही वरन् 'स्वान्तः सुखाय' और सृजन की सहज स्वच्छन्दता से लिखे गए है। अखबारो के अस्थायी साहित्य मे निकालकर पुस्तक का स्थायी रूप देने मे सर्व श्री गयाप्रसाद गुप्त सन्त तथा

एज्यूकेशनल प्रेस के अध्यक्ष श्री रामप्रसाद अग्रवाल एवं श्री जगदीशप्रसाद अग्रवाल ने जिस श्रद्धा और साहस का परिचय दिया है उसके लिए मै उनका हृदय से आभारी हूँ। इन निबन्धो के सरक्षरण और सकलन का बहुत कुछ श्रेय मेरी पुत्री सुधारानी गुप्ता, विदुषी को है। श्री रामगोपालसिह ने इसके प्रूफ-सशोधन का भार स्वय वहन करके मेरे शरीर के रक्तचाप को कुछ हल्का रखा इसके लिए मै उनका अनुगृहीत हूँ। पाठकगरण इन निबन्धो को पढकर मुझे आभारी बनायेंगे। अग्रिम धन्यवादो सहित,

गोमती-निवास
आगरा
माघ शुक्ला ४, सवत् २०११

गुलाबराय

द्वितीयावृत्ति

प्रथम सस्करण के पश्चात् मै चार शरद और देख चुका हूँ किन्तु इसमे लेख दो ही वढा सका हूँ। कुछ संशोधन और परिवर्द्धन अवश्य किए है। मुद्रण-पद्धति में थोडे हेर-फेर के कारण वारह पृष्ठ कम होगए हैं किन्तु सामग्री बीस पृष्ठ की वढ गई है, फिर भी मूल्य मे वृद्धि नही की गई है। इस संस्करण के प्रूफ संशोधन का श्रेय श्री रघुनन्दनसिंह चौहान को है। पिछला संस्करण जल्दी तो नही कुछ देर से ही समाप्त हुआ और उसके वाद भी छपने में कुछ देर हुई। इसके लिए मैं अपने को और अपने प्रकाशको को दोषी ठहराता हुआ अपने कृपालु पाठको का उनकी उदारता और सहृदयता के लिए अनुगृहीत हूँ और उनके अनुग्रहपूर्ण दृष्टिपात के लिए इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण उनके लोह करो मे (अब कर-कमलो की शव्दावली को वदलना होगा, क्योकि यह श्रमदान और इस्पात का युग है) सहर्ष सौपता हूँ।

माघ शुक्ला ४
संवत् २०१५

गुलाबराय

निबन्ध-सूची

वैयक्तिक

मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ

'बद अच्छा, बदनाम बुरा।' कवि, लेखक और दार्शनिक प्रायः इस बात के लिए बदनाम है कि वे कल्पना के आकाश मे विचरा करते है, उनके पैर चाहे जमीन पर रहें, किन्तु निगाह आसमान की ओर रहती है और वे झोपडियो मे रहकर भी ख्वाब महलो का देखा करते है। न्याय शास्त्र के कर्ता अक्षपाद गौतम एक दिन विचार करते-करते एक गढे मे गिर पडे थे। भगवान् ने दया करके उनके पैरो मे आँखे देदी थी, इस लिए कि वे ऊपर को आँख किये हुए भी पैरो के पास के गढो और काँटो को देख सकें। तभी से उनका नाम अक्षपाद हो गया। आजकल के दार्शनिको को ईश्वर मे विश्वास नही, नही तो शायद उनके पैरो में भी आँखो के जोडे निकल आते। आजकल पैरो की तो क्या सर की आँखों के भी लाले पडे रहते है। अक्षपाद अतीत काल की विभूति थे। किन्तु आधुनिक काल मे भी कुछ लोग अवश्य अपने चरित्र से दुनियाँ की धारणा को सार्थक करते रहते है। वास्तव मे कोई वर्ग अकारण बदनाम नही होता। ऐसे लोग दीन-दुनियाँ से बेखबर रहकर तीनो लोकों से न्यारी अपनी मथुरा बसाया करते है और कविवर 'अकबर' के शब्दो मे सारी उम्र होटलो मे गुजार (बढिया होटलों मे नही), मरने को अस्पताल चले जाते है। इनमे कुछ लोग तो ऐसे होते है जिनका अन्तः (घर) और बाह्य (सामाजिक जीवन) एकसा है। उनको न बच्चो की टे-टें-पे-पे से काम और न दुनियाँ के करुण-क्रन्दन से मतलब, क्वेटा का भूकम्प हो और चाहे बगाल का दुर्भिक्ष, राष्ट्र विगड़े या बने, उनको अपने सोटे-लँगोटे मे मस्त पड़े रहना, न वे ऊधो के लैन मे रहते है और न माधो के दैन मे। वे अपनी कल्पना के कल्पतरु के नीचे बैठकर अपनी विश्वामित्री सृष्टि रचा करते है; सो भी जब मौज आई, नही तो वे कल्पना का भी कष्ट नही करते।

कुछ लोग ऐसे है जिनको घर की तो परवाह नही, बच्चो के लिए दवा हो या न हो, घर मे चूहे नही आदमी भी एकादशी करते हो, बेचारी धर्म-

पत्नी नैयायिको के अनुमान के प्रत्यक्ष आधार-स्वरूप आर्द्रेन्धन (गीले ईंधन) और अग्नि के सयोग से उत्पन्न धुएँ से अग्निहोत्री ऋषियो की भाँति आरक्त-लोचन (धुएँ के अतिरिक्त क्रोध से भी) बनी रहती हो, किन्तु उन्हे सभाओ के सचालन और नेतापन से काम । घर मे उनके पैर, जाल मे पडी हुई मछली की भाँति, फटफटाया करते है किन्तु वलिहारी कन्ट्रोल की कि उनको भी आटे-दाल का भाव आलङ्कारिक रूप से नही बल्कि उसके शब्दार्थ मे भी मालूम पड गया है । एक दार्शनिक मित्र (श्री पी. एम. भम्भानी) उस रोज शक्कर का पारिवारिक अर्थशास्त्र वतला रहे थे । मुझे उन्हें चीनी की समस्या से विचलित होते देखकर आश्चर्य हुआ । उन्होंने कहा—भाई, यह कट्रोल मुझे भी आसमान से नीचे उतार लाया और मै भी अब नौन-तेल-लकड़ी के चक्कर मे पड़ गया हूँ । (ईश्वर को धन्यवाद है कि अब कन्ट्रोल की वाधा नही रही ।)

मैं कभी-कभी उपर्युक्त गृहत्यागी वर्ग की गगनचुम्विनी सीमा को स्पर्श कर लेता हूँ किन्तु पारिवारिकता के क्षेत्र से वाहर नही आ सका हूँ । पारिवारिक जीवन मे सामाजिक जीवन का समन्वय करना कभी-कभी वडी समस्या हो जाती है । ऐसा हाल प्रायः वहुत से लेखको का होगा । परिवार मे जन्म लेकर उसकी उपेक्षा नही कर सकता । कुछ लोग परिवार मे जन्म लेते हे किन्तु परिवार वनाने का पाप अपने ऊपर नही लेते है । ऐसे व्यक्ति यदि वे अगला जन्म धारण करेगे तो टेस्ट-ट्यूब वेवीज के रूप मे प्रकट होंगे । विज्ञान और समाजशास्त्र निष्पारिवारिकता की ओर जा रहा है, किन्तु हम लोग भारतीय सस्कृति के वन्धन मे पले हे, पारिवारिकता के वन्धन से वाहर नही जा सकते हे—उसमे गुण भी है और दोप भी । शुद्ध दूध मे भी तो ६० प्रतिशत से अधिक पानी होता है । उस पानी के विना शायद वह दूध हज्म भी न हो । अवोध शिशुओ के तो गले भी न उतरे । पाप-पुण्य, दिन-रात की भाँति पारिवारिक जीवन भी गुण-दोपमय है । दोपो की मैं कमी अवश्य चाहता हूँ किन्तु उस वैद्य की भाँति नही हूँ जो ऐसी दवा दे जिससे न मर्ज रहे और न मरीज । अस्तु, इसी पारिवारिकता-परायण और सामाजिकता के लिए मनोरथशील कछुए जैसे मुझ उभयजीवी प्राणी की दैनिकी का एक पृष्ठ पढने की पाठकगण कृपा करेंगे ।

तारीख २१ सितम्बर सन् १९४५ (केवल यही पृष्ठ लिखकर मैं घवड़ा गया था, वास्तविकता की पुनरावृत्ति मैं नही चाहता हूँ) ।

प्रातःकाल ४ बजे (लिनुलियगो टाइम से) उठा । अपनी 'सिद्धान्त और अध्ययन' शीर्षक पुस्तक के लिए ६ बजे तक पढ़ा । (मैं उन लोगों मे से हूँ जो

अपने विशेष निबन्धो के लिए बिना कुछ पढे नही लिख सकते। वास्तव मे मेरे लेखन मे एक तिहाई दूसरे से पढा होता है, एक बटा छह उसके आधार से स्वय प्रकाशित और ध्वनित विचार होते है, एक बटा छह सप्रयत्न सोचे हुए विचार रहते है और एक तिहाई मलाई के लड्डू की बर्फी बना कर चोरी को छिपाने वाली अभिव्यक्ति की कला रहती है।) छै से सवा छै तक कागज कलम स्याही जुटाने मे खर्च किया। घर की अव्यवस्था ही मेरे घर की व्यवस्था रहती है। जिस दिन मै कुछ नही पढता-लिखता उसी दिन मेरी मेज सजी-सम्हली पडी रहती है। आठ बजे तक मध्ये-मध्ये आचमनीयम् तथा पुङ्गीफल खण्डो के विराम चिह्नो सहित लिखा।

९ बजे तैयार होकर प्रूफ की तलाश मे प्रेस गया, अक्षर भगवान् को छछिया भर छाछ की बजाय बेलन के बल, जगत् की कालिमा मिलाकर उँगलियो पर नाच नचाने वाले कम्पोजीटर देव की अनुपस्थिति मे 'कॉपी' मे काट-छॉट की और प्रूफ मे भी घटाया-बढाया। इस प्रकार उनकी झूँझल का सामान कर बाजार गया। वहाँ पहुँचते ही 'शेखर के अन्तिम दिन' की भ्ॉति स्मृति के तार झकृत हो उठे और घर के सारे अभावो का ध्यान आ गया। किन्तु बाजार मे कोई स्थान नही है जहाँ कल्पवृक्ष की भॉति सब अभावो की एक साथ पूर्ति हो जाय। अगर अच्छा साबुन राजामण्डी मे मिलता है तो अच्छा मसाला रावतपाडे मे। किन्तु वहाँ भैस के लिए भुस का अभाव था। बाल-बच्चो की दवा के बाद अगर किसी वस्तु को मुख्यता मिलती है तो भैस के भुस को, क्योकि उसके बिना काले अक्षरो की सृष्टि नही हो सकती। मेरी काली भैस धवल दुग्ध का ही सृजन नही करती, वरन् उसके सदृश ही धवल यश के सृजन मे भी सहायक होती है। इस गुण के होते हुए भी वह मेरे जीवन की एक बड़ी समस्या हो गई है। मैं हर साल उसके लिए अपने घर के पास के खेत मे चरी कर लेता था। इस साल वर्षा के होते हुए भी मेरे यहाँ चरी नही हुई—'भाग्य फलति सर्वत्र, न विद्या, न च पौरुष'—मेरे पड़ोसी के ईर्ष्या-जनक लहलहाती खेती है। मेरी भैस को उस खेती से ईर्ष्या नही वरन् सच्चा अनुराग है, वह सच्चे भक्तो की भॉति गृह-बन्धनो को तोडकर अपने प्रेम का आक्रमण कर देती है। जितना वे उसे भगाते है उतनी ही उनकी चरी रौधी जाती है और जितनी उनकी चरी रौधी जाती है उससे अधिक उनका दिल दुखता है। मालूम नही, इसको अलङ्कारशास्त्र मे असगति कहते है या और कुछ। घाव लक्ष्मणजी के हृदय मे था और पीर रघुवीर के हृदय मे, वैसे ही रौधी चरी जाती थी और दुःख मेरे पड़ोसी महोदय के हृदय मे होता था।

मैं संघर्ष में पड़ता नहीं, किन्तु कभी-कभी इच्छा न रखते हुए भी संघर्ष बड़ा तीव्र हो जाता है। बच्चों के दूध और पड़ोसी के साथ सद्भावना में ऐसा अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित हो जाता है जो शायद प्रसादजी के नाटकों में भी सहज ही न मिले। खैर, आजकल उसका दूध कम हो जाने पर भी और अपने मित्रों को छाछ भी न पिला सकने की विवशता की झूँझल के होते हुए भी (सुरराज इन्द्र की तरह मुझे भी मठा दुर्लभ हो गया है : तक्रं शक्रस्य दुर्लभम्) उसके लिए भुस लाना अनिवार्य हो जाता है। कहाँ साधारणीकरण और अभिव्यञ्जनावाद की चर्चा और कहाँ भुस का भाव ? भुस खरीदकर मुझे भी गधे के पीछे ऐसे ही चलना पड़ता है जैसे बहुत से लोग अकल के पीछे लाठी लेकर चलते हे। कभी-कभी गधे के साथ कदम मिलाये रखना कठिन हो जाता है, (प्रगतिशीलता मे वह मुझसे चार कदम आगे रहता है) लेकिन मुझे गधे के पीछे चलने मे उतना ही आनन्द आता है जितना कि पलायन-वादी को जीवन से भागने मे। बहुत से लोग तो जीवन से छुट्टी पाने के लिए कला का अनुसरण करते हे किन्तु मैं कला से छुट्टी पाने के लिए जीवन मे प्रवेश करता हूँ। ११ बजे बाजार-हाट से भैस के लिए भुस और अपने लिए शाक-भाजी लेकर लौटा, स्नान किये, भोजन किया, और करीब-करीब १२॥ बजे कालेज पहुँचा। लड़को को पढाया या बहकाया—मैं गलत पढाने का पाप नही करता किन्तु जो मुझे नही आता उसे कभी-कभी कौशल के साथ छोड़ देता हूँ। यदि कोई छद इम्तहान मे आने लायक हुआ तो मैं बेईमानी नही करता। अपनी अज्ञता सहर्ष स्वीकार कर लेता हूँ।

कॉलेज की लाइब्रेरी से कुछ पुस्तके ली और फिर 'साहित्य-संदेश' के दफ्तर आया। वहाँ जलपान किया—जल पीकर पान खाया, कभी-कभी रूढि अर्थ मे भी जलपान करता हूँ और कभी शुद्ध अभिधार्थ में जल का पान करता हूँ। कम्पोजीटर की शिकायत सुनी, दीन शराबी की-सी तोबा की कि अब न घटाऊँगा-बढाऊँगा। आप लोगो को कष्ट अवश्य होता है। उनकी अनुनय-विनय की ('अब लौं नसानी अब ना नसैहौं')। किन्तु क्या करूँ आदत से मजबूर हूँ। बनियो की पाछिल बुद्धि होती है, लिखने के बाद कही प्रूफ पढने पर ही शोधन सूझते है। प्रूफ पढे। कम्पोजीटरों से बढ़कर स्वयं झूँझल का शिकार बना। ४ बजे घर लौटा। अभावों की नई गाथा सुनी; घर की भूली हुई समस्याएँ सामने आई। खूँटा उखाडकर भैस भाग गई थी, उसकी सांकल किसी ने उतार ली है; क्या फिर दुबारा बाजार जाऊँ ? इसी संकल्प-विकल्प मे दुग्धपान किया। रात्रि में जल के मार्जन और आचमन से

निद्रा देवी का जो तिरस्कार किया था, उसका प्रायश्चित्त किया। उठकर भाई को पत्र लिखा।

रमणीयता के सम्बन्ध में हमारे यहाँ कहा गया है: 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयतायाः' अर्थात् जो क्षण-क्षण में नवीनता धारण करे वही रमणीय है। मेरी घरेलू समस्याएँ मेरी कल्पना से भी चार कदम आगे रहती है। फिर मैं उनको सुन्दर क्यो न कहूँ। शास्त्रीय परिभाषा के बाहर मैं नही जा सकता। आज किसी ने भैस की जजीर चुराली तो कल पडिया ने खेत खा लिया। मेरी शान्ति के भंग करने के लिए एक नया एटम बम रोज तैयार रहता है। किसी को बुखार आ गया तो किसी के दाँत मे दर्द है। कभी चीनी वर्षाकालीन नदी की भाँति राशन की मर्यादा को पार कर गयी तो कभी कपडो की चर्चा। सर्वोपरि, लडाई के दिनो मे सुरसा के मुख की भाँति बढते हुए खर्चों के अस्तित्व मे कलियुग मे श्रद्धा की भाँति घटते हुए बैंक-शेषो को बौद्धों के परम तत्त्व (शून्य) की गति से बचाने की फिक्र। धन भी हो तो वस्तु का अभाव। कपडो के सम्बन्ध मे डिस्ट्रिक्ट सप्लाई ऑफिसर से मिलने का सकल्प किया, घर मे इधर-उधर का वार्तालाप। सायकाल को अपने पडोसी द्विवेदीजी के यहाँ बैठकर स्त्रियो के वेदाध्ययन के अधिकार पर चर्चा की। (यद्यपि मेरे घर मे किसी के वेद पढ़ने की आशका नही, फिर भी शहर के अन्देशे से परेशान होने मे कुछ ट्रेजडी के पढने का-सा आनन्द आता है।) मैंने कहा कि जब स्त्रियो में मंत्रद्रष्टा हैं तो उनको वेदो के पढने का अधिकार क्यो नही? उन्होने कहा जो शास्त्र मे लिखा है, उसमे सगति लगाने और तर्क उठाने की गुन्जाइश नही। विचारो मे घोर मतभेद होते हुए भी वार्तालाप कटुता की सीमा तक नही पहुँचता और मैं उनके यहाँ बैठकर 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' की उक्ति को सार्थक करता रहता हूँ। रात को सवेरे की साहित्यिक चोरी के लिए कुछ पढा, बच्चो से वार्तालाप किया। कुछ मनोविनोद हुआ।

कभी-कभी जब बाल-बच्चे करुण, रौद्र या वीर रस का लौकिक प्रदर्शन करने लगते है तब मुझे प्रसादजी की निम्नलिखित पक्तियो की सार्थकता समझ मे आने लगती है—

ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक धीरे - धीरे,
जिस निर्जन मे सागर लहरी,
अम्बर के कानो मे गहरी—

निश्छल प्रेम-कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे।

बच्चो को मैं पढाता बहुत कम हूँ। यहाँ तक कि मेरे बच्चे भी मुझ पर इस बात का व्यग्य करने लगते है। मेरे एक शिष्यप्रवर ने (जब आचार्य-प्रवर कहलाते हे, तो शिष्यप्रवर भी कहलाने चाहिये) किसी प्रसंग में कहा—हम तो आपके बच्चे है, आपका आशीर्वाद चाहिये। मेरे कनिष्ठ पुत्र विनोद ने, जिसकी आयु प्रायः बारह साल की है, तुरन्त उत्तर दिया, "आप अगर बाबूजी के बच्चे बनेगे तो वे आपको पढाना छोड़ देगे क्योंकि वे बच्चो को नही पढ़ाते हे।" यही मेरे पारिवारिक जीवन की कमी है। वैसे इन झंझटो के होते हुए भी अत्यन्त सुखी हूँ। चारों ओर अनुकूलता और आज्ञाकारिता है। मैं हृदय की सचाई से कह सकता हूँ कि जन्म-जन्मान्तर में भी मेरा जन्म इसी परिवार मे हो। मैं मोक्ष के लिए उत्सुक नही हूँ।

नोट—इस दिनचर्या मे थोडा परिवर्तन हो गया है। भैंस के प्रति तुलसीदासजी का-सा अनन्य भाव रखते हुए भी अब भैंस के स्थान पर गाय पाल ली है। समस्याएँ तो करीब करीब वे ही हैं। आजकल मेरे पडोसी के यहां घास अच्छी है—वैसे भी पराई पत्तल का भात अच्छा लगता है—उस पर आक्रमण होता है। समय मिलने पर मै रघुवश (२।५) में वर्णित महाराज दिलीप के पूरे कार्यक्रम का अनुकरण करता हू—'आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणाना कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च' अर्थात् घास के सुस्वादु ग्रासों से, खुजलाने से और डाँस उडाने से मै उसे प्रसन्न करना चाहता हूँ, केवल एक बात की कसर रह जाती है—मै उसकी अव्याहत स्वच्छन्द गति में सहायक नही हूं और यह नहीं कह सकता 'अव्याहतैः स्वैरगतैः' क्योंकि उसके स्वच्छन्द विचरण में पडोसियों के विनम्र परन्तु तीखे उपालम्भों का भय रहता है। मै यदि सम्राट् होता तो उसकी अबाधित गति पर आक्षेप करने का किसी को साहस न होता। भुस के लिए मुझे अब बाजार नही जाना पड़ता। बाजार-हाट का बहुत-सा काम अब मेरा कनिष्ठ पुत्र विनोद कर लेता है। कम्पोजीटर अब भी मुझसे परेशान हैं। गाय तो आजकल नहीं है उसकी बछिया मेरे घर पर न रहते हुए भी मेरे लिए एक समस्या है।

['मेरी असफलताएँ']

आत्म-विश्लेषण

जहाँ मुझमे भले आदमी का ढोग रचने की प्रवृत्ति बहुत काल पूर्व से थी (मुझमे उतनी भलमनसाहत अवश्य है जितनी कि कलई करने के लिए सोने की मात्रा आवश्यक होती है), वही अब करीब पाँच वर्ष से रक्तचाप, मधुमेह, मन्दाग्नि आदि बडे आदमियो के रोगो के साथ मैंने वर्षगाँठ मनाने का भी रोग अपनाया है । वास्तव मे यह मेरी दशवी वर्षगाँठ है क्योकि अभी मैंने केवल दश ही बार वर्षगाँठ मनाने का उपक्रम किया है । यद्यपि जीवन का प्रत्येक क्षण भगवान् की देन है, तथापि मैं समझता हूँ कि साधारण सयम से जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति साठ वर्ष तक अपने सयम के अधिकार से सुखेन जी सकता है । किन्तु उसके पश्चात् प्रत्येक वर्ष ईश्वर की अमूल्य दैन है । इसीलिए ईश्वर के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करने के अर्थ (यद्यपि मैं बौद्धिकता की अपेक्षा भावुकतावश ही ईश्वर मे विश्वास करता हूँ) प्रतिवर्ष वर्षगाँठ मनाने लगा हूँ ।

उत्सव-प्रियता मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है । यह उसकी सामाजिकता की सहज वृत्ति की परिचायक है । किन्तु जन्म-दिन जैसे उत्सवो मे सामाजिकता के साथ वैयक्तिकता का पुट भी करीब-करीब बराबर मात्रा मे रहता है । इस उत्सव मे जहाँ तक सामाजिकता है वहाँ तक मुझे प्रसन्नता है, किन्तु इसमे जो वैयक्तिकता है उसके लिए मैं लज्जित हूँ, क्योकि अपने लिए दूसरों को कष्ट देना (चाहे वह लेख पढने का ही क्यो न हो) अक्षम्य दोष है ।

कठिनाइयो और बाधाओं के होते हुए भी मैं ईश्वर के प्रति अनुगृहीत हूँ कि ससार मे जितनी दुःख की मात्रा है उसको देखते हुए मुझे अपने हिस्से से बहुत कम मिला है, किन्तु इस विषय मे मैं साम्यवादी नही बनना चाहता हूँ (और न मेरे साम्यवादी मित्र ही दुःख का साम्यवादी बँटवारा चाहेगे) । इसी कारण मैं सुख और वैभव मे साम्यवादी बनने के लिए बहुत उत्सुक नही हूँ । दुःख और कठिनाइयो पर विजय पाने मे ईश्वर की कृपा के अतिरिक्त मेरी हास्यप्रियता और 'काव्यशास्त्रविनोदेन' कालयापन करने की प्रवृत्ति ही सहायक है । वास्तविक दुःखो से, जिनमे स्वजनो की बीमारी मुख्य है, अवश्य दुःखी हुआ हूँ, किन्तु कल्पित दुःखो—विशेषकर आर्थिक कठिनाइयो—से मै विचलित नही हुआ हूँ ।

'मति अति नीचि ऊँचि रुचि आछी; चाहिय अमिय जग जुरइ न छाछी।' यद्यपि रुचि के अनुकूल मति नही है तथापि छाछी की तो कमी नही रही, दूध भी विना किसी कठिन परिश्रम के मिल गया है। उसको मैंने अमृत करके ही माना है। तुलसीदासजी की भाँति न तो मैं कभी छाछी को ललचाता रहा और न बडे होने पर सौधे दूध की मलाई को नखरे और नाराजी से खाया—'छाछी को ललात जे ते राम नाम के प्रसाद, खात खुनसात सौधे दूध की मलाई है।' मैंने दूध का हर एक रूप मे स्वागत किया है (सपरेटा को छोडकर)। दूध मैंने गरम ही पीना चाहा है। असावधानी मेरा जन्मगत दोप है क्योकि वसन्त से एक दिन पूर्व ही मैं इस ससार मे आया किन्तु मैं उससे (दूध से) जला नही हूँ, इसलिए छाछ को फूँक-फूँक कर पीने की आवश्यकता नही पडी। जीवन में पर्याप्त लापरवाही रही। अनियमितता ही मेरे जीवन का नियम और विधान रहा। जीने के लिए जितने खाने की आवश्यकता है उससे कही अधिक खाया। रसना का संयम मैं न कर सका। मैं सव चीजों का आस्वाद लेकर 'रसना' शब्द को सार्थक करता रहा हूँ। मैं न खाने के लिए जिया और न मैंने जीने के लिए खाया वरन् इसलिए खाया कि खाना भी जीवन का एक सदुपयोग है। किन्तु मैं मर्यादा से वाहर नही हुआ। मैंने मध्यम प्रतिपदा का अनुसरण किया। मैं जानता हूँ कि उचित मात्रा मे विप भी ग्राह्य हो जाता है। परान्न का मैंने आदर किया किन्तु उसके लिए 'परान्न प्राप्य दुर्बुद्धे मा शरीरे दया कुरु' का सिद्धान्त नही वरता, 'शरीराणि जन्मनि जन्मनि' मे इतना दृढ विश्वास नही कि भोजन के लिए जीवन को खतरे मे डालूँ। फिर भी जहाँ खतरे की घटी वजी वहाँ डाक्टरो के कठोर शासन मे अपने को रख दिया।

मैं वहुत आदर्शवाद मे नही पड़ा। 'अकरणाद् मन्दकरणं श्रेयः' का सिद्धान्त मेरे जीवन को क्रियाशील वनाये रखने में सहायक रहा है। पर कभी-कभी मैंने वीछी का मन्त्र न जानते हुए साँप की वाँवी मे हाथ डाल दिया है। हिन्दी साहित्य को भली भाँति न जानते हुए भी सस्कृत-साहित्य से भी मैंने खिलवाड किया है। इसका एक कारण यह भी है कि सस्कृत के पडित प्राय· मौन रहना ही पसन्द करते है। जब कोयल मौन हो जाए तो क्या मेंढक भी टरटर न करे? मुझे अपनी साहित्यिक न्यूनताओं का औरो की अपेक्षा अधिक ज्ञान रहा है। 'साँप के पैर साँप को ही दीखते हैं', इसलिए जितना मान मुझे मिला उसे पर्याप्त से अधिक मानकर मैंने शिरोधार्य किया। 'अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्' का अनुसरण करते हुए विद्या वहुत तो नहीं मिली किन्तु वह मूर्खों में रौब जमाने के लिए पर्याप्त है। कुशल

व्यापारी की भाँति मैं अपने विद्या-धन को तिजोरी मे बन्द करके नही रखता वरन् पुस्तके लिखकर उसे गतिशील बनाए रखता हूँ। विद्या मनोरजनी होने के साथ अर्थकरी भी हो जाती है।

ईश्वर ने मुझे धन भी बेहिसाब दिया है। बेहद तो उसे नहीं कह सकता क्योकि आजकल तो वैज्ञानिक लोग तारागणों की गणना करना भी असम्भव नही मानते है। वह बेहिसाब इस अर्थ मे है कि मैं आलस्यवश आय-व्यय का हिसाब नही रख सका। मैं केवल इतना ही जानता हूँ कि वर्ष के अन्त मे सौ और दो सौ के बीच की रकम या उससे भी कम बाकी बच रहती है; इस सन्तोष मे खल के से इतराने की बात आ जाती है—'छुद्र नदी भरि चलि उतराई, जस थोरेउ धन खल बौराई।'

मैंने साहित्य-सेवा अवश्य की, किन्तु मुझमे गहरी पैठ का अभाव रहा। सन्तोष केवल इतना है कि किनारे बैठे हुए ही बहुत से रत्न मिल गये। मैं उनका उदारतापूर्वक वितरण करता रहा और उस वितरण में सरस्वती के भडार की अक्षयता ही प्रमाणित होती रही। ईश्वर को कोटिशः धन्यवाद देता हूँ कि उसने मुझमे इतनी साहित्यिक व्युत्पन्नता नही दी कि मै रेशम के कीडे की भाँति अपने ही जाल मे लिपट जाऊँ और उसके कारण आलोचना के गरम जल मे डाला जाऊँ।

साहित्यिक ज्ञान के खोखलेपन के साथ, जिसको मैं प्रायः प्रकट नही होने देता, मुझमे नैतिक गाम्भीर्य का भी अभाव रहा है। यद्यपि परहित के धर्म का उचित से कम मात्रा मे ही पालन कर सका हूँ, तथापि परपीड़न की अधमाई से यथासम्भव बचता रहा हूँ। मुझमे कमजोरियाँ रही किन्तु मैंने उन कमजोरियो को कमजोरियाँ ही कहा। यद्यपि मैंने महात्मा गान्धी की भाँति उनका उद्घाटन नही किया फिर भी उनको किसी भव्य आवरण के नीचे छिपाने का प्रयत्न भी नही किया। अपनी कमजोरियो के ज्ञान ने मुझे दूसरों की कमजोरियो के प्रति उदार बनाया। दूसरे के पक्ष को मैंने सदा मान दिया। अपनी भूल को स्वीकार करने के लिए सदा तैयार रहा। इसी कारण मै दूसरो के वैर-विरोध से बचा रहा, यद्यपि कभी-कभी ऐसी बात सुनने को मिल गई—"दूसरो के प्रति अपराध कर, उनका नुकसान कर, क्षमा मॉगने से क्या लाभ? यह तो जूता मार कर दुशाले से पोछने की नीति हुई।" दूसरों के किए हुए उपकार का मैं प्रत्युपकार तो नही कर सका; मैं अपने उपकारी के लिए यही शुभ कामना करता रहा कि वह ऐसी परिस्थिति मे न आए कि उसको मेरे प्रत्युपकार की जरूरत पड़े (और मैं भी आलस्य का

सुखद धर्म त्याग कर कष्ट में पडूं) किन्तु मैंने अपकार के बदले अपकार करने की भी चेष्टा नही की और न कभी उपकारी का कृतघ्न ही हुआ। मेरे विरोधियो द्वारा किया हुआ अपकार मेरे हृदय से पानी की लकीर की भाँति सहज मे तो नही विलीन हो गया किन्तु वह पत्थर की लकीर नही बना। अधिक से अधिक बालू की लकीर बनकर रह गया जो उनके एक कोमल शब्द से मिट गया। कभी-कभी मेरी हास्य-व्यग्य की वृत्ति ने मेरी सज्जनता पर अवश्य विजय पाली है। कोई अच्छा व्यग्य मिल जाता है तो उसे बिना लिखे नही रहता। बडो की ईर्ष्या अवश्य की किन्तु पराई विभूति देखकर जूड़ी नही आई। न मै 'बिन काज दाहिने बाएँ' हुआ क्योकि दुनियाँ मे वैसे ही मुसीबतें काफी है, दाहिने-बाएँ बनकर नई मुसीबत मोल लेना मै मूर्खता समझता रहा हूँ। इन निषेधात्मक गुणो से मैंने सन्तोष किया। 'यही हमारि अति बड सेवकाई, लेहि न बासन बसन चुराई।'

सत्य की मैंने हृदय से सराहना की किन्तु भीरुतावश असत्य का उग्र विरोध करने का साहस न कर सका। भ्रष्टाचार से मैं स्वय यथासम्भव बचा किन्तु दूसरों को भ्रष्टाचार से न रोक सका। शहर के अन्देशे से लटने की मुझमे उदारता नही आई। इसका मुझे पश्चात्ताप है। कभी-कभी 'मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' की वृत्ति समाज के लिए अहितकर सिद्ध हुई है। मेरी दार्शनिक प्रवृत्ति ने असत्य मे भी सत्य की चिनगारी देखने के लिए मजबूर किया। इसलिए मेरे निर्णय दो-टूक कटे-छटे नही होने पाते। कुछ लोगो ने मेरे नकार को शिथिल बतलाया है, यह उनका कथन ठीक है किन्तु उसका मुझे खेद नही है।

मैंने धर्म के विषय मे 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' के आधार पर अपने को ही अधिक प्रमाण माना है। मेरे इस बुद्धिवाद से मेरे पूज्य पिताजी और मेरे कई धार्मिक मित्र भी अप्रसन्न रहे, किन्तु मैंने श्रीमद्भगवद्गीता की उदारता का आश्रय लेकर (ये यथा मा प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्) अपनी ही मनमानी की, और लोगो से कह दिया कि 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'। मैंने निवृत्ति की अपेक्षा सात्त्विक प्रवृत्ति को अधिक श्रेयस्कर समझा। वैराग्य-साधन द्वारा मुक्ति की मैंने परवाह नही की किन्तु कवीन्द्र रवीन्द्र के शब्दों में 'असख्य बन्धन माझे महानन्दमय ! लभिब मुक्तिर स्वाद' की नीति को अपनाया। विश्राम कर भौतिक जीवन को लम्बा करने की अपेक्षा कार्यरत रहकर जीवन की सम्पन्नता बढाने को अधिक महत्त्व दिया। जीवन की दीर्घता का माप कार्य-बाहुल्य में है। मैंने जीवन के सुख-

भोग और वैभव से वैराग्य नही धारण किया। केवल इतना ही प्रतिबन्ध रखा कि वह विलास-वैभव अन्यायार्जित न हो। सम्यक् आजीविका और विलास-वैभव की सात्त्विकता का सदा ध्यान रखा।

जीवन के अन्य कार्यो मे भी दूसरो की बात को सुना अवश्य किन्तु की मनमानी ही। 'परोक्त न मन्यते' का गुण या अवगुण पडितों और मूर्खो मे समान रूप से रहता है। मूर्खो मे वह हठवाद कहलाता है और पडितो में वह दृढता के नाम से प्रतिष्ठित होता है। मै अपने सम्बन्ध मे उसे हठवाद ही कहूँगा। मैं दूसरे की बात को तभी मानता हूँ जब उसे अपनी बना लेता हूँ। उस आत्मीकरण की क्रिया मे अपनी-पराई का समन्वय हो जाता है। दूसरो की बात का सार ग्रहण करने को तैयार रहता हूँ किन्तु अपनी बात को भी हेय नही समझता। भारतीय समन्वयवाद मेरे जीवन का लक्ष्य रहा है। इस समन्वयवाद से एकनिष्ठ लोग अप्रसन्न भी रहते है, किन्तु मै समझता हूँ कि यदि मै भूल भी करता हूँ तो वह सत्य की प्रतिष्ठा की ओर ले जाने वाली होती है। मेरी आलोचनाओ मे भी यही सारग्राहिता रहती है। इससे लेखक लोग तो प्रसन्न रहते है, किन्तु अन्य आलोचक उनको कभी-कभी निर्जीव कहने पर उतारू हो जाते है।

मेरी आलोचना खीर और मक्खन की सी मीठी, स्निग्ध और मुलायम होती है। कही-कही कोई व्यग्य का बादाम निकल आता है। यद्यपि मैं स्वार्थी अवश्य रहा हूँ तथापि मैंने परकीर्ति को नष्ट करके कीर्ति नही चाही है। स्वार्थी होकर भी सिद्धान्ततः मानवतावादी रहा हूँ। 'परहित निरत निरन्तर मन-क्रम-वचन-नेम निवहोगौ' के सकल्प को तो आलस्य और स्वार्थ-वश न निभा सका किन्तु 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः' का मान-सिक शिव-सकल्प चारपाई पर पडे-पडे, कम से कम अपने स्वजनो के लिए, अवश्य कर लेता हूँ। वीभत्सता से मैं सदा बचता आया हूँ, शालीनता का सदा मान किया और सौन्दर्य से, चाहे वह बाह्य हो और चाहे आन्तरिक, सदा आकर्षित होता रहा हूँ, वह मन मे एक अपूर्व सुखद साम्य उपस्थित कर देता है। मैंने अपनी सौन्दर्योपासना को यथासम्भव सात्त्विक बनाने का प्रयत्न किया है। कालिदास का यह वचन कि 'यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः' अर्थात् यह जो कहा जाता है कि रूप पापवृत्ति के लिए नही, बिलकुल ठीक है, मुझे भी यह सोलह आने नही तो चौदह आने अवश्य ठीक मालूम पड़ता है—विशेषकर इसलिए कि पाप-पुण्य के बीच की रेखा निर्धारित करना बहुत कठिन है।

क्रियाशीलता में सिद्धान्ततः विश्वास रखते हुए, घोर गंभीर अध्ययन में मनोयोग नहीं दे पाता हूँ। मै ज्ञान-मन्दिर की देहली से ही उसकी सौम्य मूर्ति झाँक सका हूँ। उसके भीतर प्रवेश के लिए परिश्रम और प्रयत्न किया पर बेचारे हरिजनों की भाँति उसे प्राप्त करने मे असमर्थ ही रहा हूँ। मेरे ज्ञान में भी एकनिष्ठता नही है। इसलिए मैं साहित्य और आलोचना के विषय में अपने को पिछडा हुआ पाता हूँ। फलतः इन वैयक्तिक निवन्धो मे ही मन रमा लेता हूँ और कभी मनोविज्ञान और दर्शन की चर्चा कर लेता हूँ। धन के अभाव मे अर्जित यश और पूर्वकृत पुण्यों के आधार पर जीवन-यात्रा चला रहा हूँ। मैं अब चौदह को पाँच से गुणा करने मे सफल हो चुका हूँ और पन्द्रह का पहाडा पजे तक पढ गया तो अपने को पूर्णकाम समझूँगा वशर्तेकि 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा.' (ईशावास्य) (मैं शत की इच्छा नही करता क्योकि अतिवार्द्धक्य मे जीवन नीरस और दुर्वह हो जाता है, न वे मुझे प्राप्त हो सकते हे)।

इतनी और इनसे अधिक न्यूनताओ के होते हुए भी घर में और वाहर स्नेह की पूर्ण मात्रा मिली, इसी से इस जीवन-दीप मे ज्योति वनी हुई है। मुझे इस वात का हर्ष है कि मैं राजनीतिक सत्ता से वचित रहा हूँ, इससे मुझे अपने प्रशसको की ईमानदारी मे सन्देह करने को गुजाइश नही रहती, उनके वचनों मे चाटुकारिता की गध नही रहती।

मैं सवसे पहले जल में लक्ष्मी का प्रादुर्भाव करने वाले और विष को अमृत वनाकर उसका मदिरा के साथ योग देकर तीनों का वन्धुत्व प्रमाणित करने वाले डाक्टरो का, जिनकी कृपा से मैने सत्तर वर्ष पूरे किये और मैं ओरिएण्टल वीमा कम्पनी की अत्यधिक सतर्कता का, जिसके वश उन्होने साठ वर्ष की मियाद का वीमा करने से इन्कार कर दिया था, उपहास कर सका, विद्वानो का, जिनके सम्पर्क मे आकर वहुत कुछ सीखा; प्रकाशकों का, जिनकी कृपा से काले अक्षर भैंस के समान दुधार वन गये, और अन्त में जगदाधार ईश्वर का, जिसने नीचे के श्लोक मे दिये हुए एक सद्गृहस्थ के प्रायः सभी उपकरण मेरे लिए उपस्थित कर दिये है, हृदय से अनुगृहीत हूँ।

सानन्द सदन सुताश्च सुधियः कान्ता मनोहारिणी
सन्मित्रं सुधन स्वयोषितिरतिः सेवारताः सेवकाः।
आतिथ्यं गुरुपूजन प्रतिदिन मिष्टान्नपानं गृहे
साधोः सग उपासना च सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः॥

अव इस अहवाद की—जिसका प्रायश्चित्त मैं केवल इतना ही कर

सकता हूँ कि तीन मास तक दूसरों के अहवाद की आलोचना न करूँगा क्योंकि अब मैं उनका समानधर्मा वन गया हूँ (अन्तर केवल इतना ही है कि मैं इस अहंवाद की ऊब से पूर्णतया सचेत हूँ)। यहाँ इस लेख की इतिश्री करता हूँ और अपने पाठको से उनका समय नष्ट करने के लिए क्षमा-याचना करता हूँ क्योकि जो कुछ मैंने इसमें लिखा है परहिताय की अपेक्षा आत्माभिव्यक्ति और स्पष्ट शब्दो मे कहिए तो आत्म-विज्ञापन के लिए लिखा है। मेरे जीवन मे कोई ऐसी चीज नही रही जिसको मै गर्व से लिखता। जो कुछ लिखा वह सब वाणी-विलास माना है, जिसका लोभ मैं संवरण करने मे असमर्थ रहा। वास्तव मे मैंने अपने जीवन मे कोई वड़ा काम नही किया। जिस काम को मैं करने मे समर्थ हुआ वह मेरे लिए वड़ा नही रहा क्योकि मै जानता हूँ कि जिस काम को मैं कर सका उसे कोई भी मूर्ख कर सकता, नही तो मैं ही उसे कैसे कर सका?

[*'साप्ताहिक हिन्दुस्तान'*, (फरवरी, ५३)]

नोट—यह लिखा तो पैंसठवीं वर्षगांठ पर किन्तु सत्तरवी वर्षगांठ पर इसमें आवश्यक संशोधन कर लिया गया है।

मेरा मकान

मुगलसम्राट् शाहजहाँ जव कैद मे थे, तव उनसे पूछा गया कि आप क्या काम करना चाहेगे ? उन्होने उत्तर दिया—लड़को को पढाना। इसके प्रत्युत्तर मे उनके सआदतमद पुत्र शाहशाह औरगजेव ने फरमाया कि 'अव्वाजान, आपके दिमाग से वादशाहत की वू अभी नही गई है।'

छतरपुर राज्य से लौटने पर मैंने भी जैन बोर्डिङ्ग हाउस, आगरे की अनाहारी वा अनारी (Honorary) आश्रमाध्यक्षता (वार्डनशिप) स्वीकार की। लोग कहेगे, मेरे दिमाग से भी राज्य की वू नही गई थी; ठीक है। प्रोफेसरी में तो निजी सम्वन्ध का प्रायः अभाव होने के कारण अधिकार की मात्रा कम रहती है, वार्डनशिप में घनिष्ठतर सम्वन्ध होने के कारण वह कुछ अधिक हो जाती है। किन्तु मेरे मत मे शासन का अभाव ही शासन की श्रेष्ठता थी (That gevernment is best which governs least)। दुर्भाग्यवश मेरे सिद्धान्तो के लिए जैन वोर्डिग हाउस का वातावरण उपयुक्त न था। विद्यार्थियो मे प्रीति का भय वहुत कम था और भय की प्रीति भी अधिक न थी। अधिकारीवर्ग भी 'भय विन होइ न प्रीति' के पूर्ण अनुयायी और दण्ड-विधान के घोर समर्थक थे। वे मेरी अपेक्षा आदर्शवादी भी कुछ अविक थे, वीसवी शताव्दी की अंगरेजी सभ्यता मे पालित-पोषित वावू लोगो से निशाचरी वृत्ति (रात मे चरने या खाने की वृत्ति) छुड़ाना चाहते थे। मैं चाहता था कि राम-राज्य की भाँति, 'दण्ड जतिन कर' ही रह जाय, अर्थात् दण्ड सजा के रूप से उड़ जाय, और दंड (डडा) केवल सन्यासियो के हाथ मे ही रहे, किन्तु राम-राज्य कलियुग मे कहाँ ?

मैं यह अवश्य कहूँगा कि सव विद्यार्थी दंड के अधिकारी न थे। दंड के अधिकारी लोगो ने भी मेरे साथ कभी उद्दडता का व्यवहार नही किया। मेरे प्रति उनका सौजन्य-भाव ही रहा। उनमे इतनी शिक्षा न थी कि वे यह समझे कि वन्धन मे ही मुक्ति है, आत्मसयम मे ही आत्मसम्मान है; वे सज्जन होते हुए भी निशाचर (रात्रि मे भोजन करने वाले) वनने से रुक नही सकते थे। टेनिस का खेल उनको दीपक जलने से पूर्व खा लेने मे वाधक होता था। मुझमे पूज्यपाद निम्वार्काचार्य* की सी सामर्थ्य न थी जो सायं-

---

* कहा जाता है कि एक दिन श्री निम्बार्काचार्य का एक जैन पंडित से शास्त्रार्थ हुआ और सूर्यास्त होते-होते शाम होगई। जैनाचार्य जी भोजन के लिए जाना चाहते थे और शास्त्रार्थ समाप्त करने

कालीन सूर्य को नीम के पेड से नीचे उतरने के लिए कुछ काल तक रोके रहूँ। मैं लड़को की खेल की स्वाभाविक प्रवृत्ति मे वाधक नही होना चाहता था। जैन वोर्डिग हाउस के लिए धन देने वालो को सायकाल से पूर्व भोजन कर लेने की सदिच्छा से मै विद्यार्थियो को अवश्य अवगत करा देता था। अधिकारियो का भी मेरे प्रति सौजन्य ही रहा, इसीलिए मतभेद होते हुए भी कोई वैमनस्य नही हुआ।

मैं यह समझता था कि स्वर्ग से भी, पुण्यक्षीण होने पर लोग मर्त्य-लोक में भेज दिये जाते है, 'ते त भुक्त्वा स्वर्गलोक विशाल क्षीणे पुण्ये मर्त्य-लोक विशन्ति'। फिर राज्य और अधिकार के लिए भाग्य का बहुत दिन आश्रय लेना बुद्धिमानी का काम नही था। मर्यादापुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी ने पिता की आज्ञा से राज्य को 'कीर के कागर ज्यो' और 'वटाऊ की नाई' छोड़ दिया था और इस युग मे भी सम्राट् एडवर्ड अष्टम को ऐसे राज्य को छोडने मे, जिस पर कभी सूर्यास्त नही होता, एक मुहूर्त्त की भी देर न हुई, तो मुझे अपने छोटे से राज्य को छोड़ने मे देर लगाना स्वार्थपरायणता की पराकाष्ठा प्रतीत हुई। अन्त मे मुझे कभी न कभी वह पद छोडना ही पड़ता। गोस्वामी तुलसीदासजी के निम्नलिखित कथन का सहारा मिल गया—'अन्तहु तोहि तजेगे पामर तू काहे न तज अव ही तै'। मैंने त्यागपत्र भेज दिया। त्यागपत्र 'सखेद' स्वीकार भी हो गया। इतने मे ग्रीष्मावकाश आ गया, मुझे पेन्शन-स्वरूप अधिकारियो के सौजन्य-वश वोर्डिग हाउस के क्वार्टरों मे दो मास ठहरने की विना माँगे आज्ञा मिल गई।

आज्ञा तो मिली, किन्तु मुझे नीति-वाक्य याद आया कि 'स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते केशाः दन्ताः नखाः नराः' इसलिए मैंने भविष्य के वारे मे विचार किया। किराए के मकान मिल सकते थे। थोडे किराए के मकान पसन्द नहीं आते और अच्छे मकानों का किराया इतना अधिक था कि इसके प्रतिमास अदा करने में मेरे पैर सौर से वाहर निकल जाते। भूखो नही तो जाड़ों अवश्य मर जाता।

जलेसर में मेरा पैतृक घर है, किन्तु वहाँ न तो वच्चों की शिक्षा का प्रवन्ध और न मेरे स्वाध्याय का सुभीता था। वहाँ चुङ्गी की चर्चा और निरीह जर्जरितकाय किसानो को आतङ्कभार से दवने और मरो को मारने

के लिए उत्सुक हो उठे। श्री निम्वार्काचार्य ने शास्त्रार्थ का आनन्द जारी रखने के लिए सूर्य देव से कह दिया कि जव तक शास्त्रार्थ समाप्त न हो और जैनाचार्य भोजन न करलें तव तक वे (सूर्य देव) सामने के नीम से नीचे न उतरें। इसी से उनका नाम निम्वार्क पडा। निम्व=नीम+अर्क=सूर्य।

की शेखी बघारने वाले शाहमदारों, सत्ताधिकारी जमीदारों तथा अनारी मजिस्ट्रेटो की गर्वोक्तियाँ सुनने के सिवा क्या रक्खा था ? यद्यपि मैं क्षीण-तेज था तथापि मुझमे दूसरो का प्रताप न सहने वाला सहज स्वभाव वना हुआ था, फिर जलेसर मे मेरी कहाँ गुजर ? उन दिनों वहाँ वर्तमान कॉलेज या हायर सेकिन्डरी स्कूल का अस्तित्व न था।

आगरा मे विद्यार्थी-जीवन व्यतीत करने के कारण उससे विशेष मोह हो गया है। उसको छोडने की इच्छा नही होती। लोमश ऋषि को आदर्श मानकर मकान वनाने के, सिद्धान्त रूप से, मै खिलाफ हूँ। लोमश ऋषि की इतनी आयु है कि जव ब्रह्मा का एक वर्ष होता है, तव वे अपने शरीर का एक वाल नोचकर फेकते है और इस प्रकार जब उनके सारे शरीर के वाल निकल जायँगे, तव उनकी मृत्यु होगी। वे भी अनित्यता के भय से मकान नही वनाते, और अपनी झोंपड़ी को आज तक सिर पर लिए फिरते है।

मेरे आर्थिक सलाहकार भी मकान वनाने में सहमत न थे। किन्तु चिडियाँ अपने नीड मे विश्राम लेती हैं, साँप के भी वाँवी होती है, भेडिया अपनी माँद में रहता है, चूहे भी अपने लिए विल खोद लेते है, तो मेरे शरीर को आतप और मेघ से सुरक्षित रखने के लिए एक टूटा-फूटा मकान भी न हो ! आत्मभाव जाग उठा—'धिक् पौरुष, धिगैश्वर्यम्।' मैं सोचने लगा, दीन सुदामा के पास भी शायद एक झोपडी थी। यदि किराए की झोपड़ी होती, तो कृष्ण भगवान् उसके स्थान मे सोने के महल न बनवाते क्योंकि मालिक मकान उन्हे अपने वतलाने लगता।

किराए के मकान के सम्वन्ध में कॉलरिज आदि अङ्गरेजी के सुकवियो की करुण कथाएं पढी थी। सुना जाता है, एक वार वे वड़ी सुन्दर कविता लिख रहे थे, जिसे उन्होंने स्वप्न मे रचा था। वह ससार की सर्वोत्तम कवि-ताओ मे से एक होती, किन्तु वे कुछ ही पंक्तियाँ लिख पाये थे कि मकानवाले ने आकर घोर तकाजा किया और कवि महोदय की जिह्वाग्र सरस्वती हंसा-रूढ हो ब्रह्मलोक चली गई। संसार एक सुन्दर कविता से वंचित रह गया। यह कथा पढने के पश्चात् मुझे किराए के मकानों से चिढ सी हो गई है। मुफ्त के मकान अव भाग्य मे कहाँ ? जेल जाने की शरीर में सामर्थ्य नही। (पीछे मे मेरे कृपालु पं० हरिशङ्कर शर्मा और महेन्द्रजी जेल की साहित्यिक गोष्ठी पूरी करने के लिए मुझे वहाँ बुलाना चाहते थे। उन दिनों किसी को जेल बुलाना कठिन न था। दो-चार संकेतपूर्ण पत्र किसी व्यक्ति के नाम लिखना पर्याप्त था। सी० आई० डी० की वनिदृष्टि उस पर पड़ जाती। किन्तु

उन लोगो ने दयावश मुझे जेल जाने के सुयश से वञ्चित रखा।) अस-बस, अपना ही मकान बनाने का कठोर सङ्कल्प किया। अच्छा है, मकान बनेगा, तो कुछ शगल ही मिल जायगा। पढने से ऊबे हुए मन को कुछ व्यसन न होना मुझे अखरता भी था। इस सम्बन्ध मे मैने एक सवैया भी लिखा है—

> तास छुए नहिं हाथन सो, सतरजहु मे नहि बुद्धि लगाई।
> टेनिस-गेम सुहाय नही, फुटबॉलहु पै नहिं लात जमाई।।
> केरम-मर्म न जान्यहु, पेखत क्रीकेट-कदुक देत दुहाई।
> जीवन को सुख पायु न रचक, लेखन मे निज बैस गमाई।।

जब मैं किसी बात का सङ्कल्प कर लेता हूँ, तो उसकी पूर्ति के लिए अन्धप्राय हो जाता हूँ। आवेशवश आगा-पीछा नही देखता। कल्पना के कल्पतरु के नीचे बैठे नये मकान के स्वर्णमय स्वप्न देखने लगा। मै सोचता था, थोडासा ही द्रव्य लगाकर एक छोटासा मकान बनाकर उन्मुक्त वातावरण मे रहूँगा। मकान के लिए जमीन तलाशने लगा। जहॉ मै जमीन चाहता था, वहॉ की एक-एक इञ्च जमीन बिक चुकी थी। बिकी हुई जमीन मे से बहुत अच्छी जमीन कुछ अधिक दामो मे मिलती थी। किन्तु जिस प्रकार सिह दूसरे का मारा हुआ शिकार नही खाता उसी प्रकार मैं दूसरे की खरीदी हुई जमीन मे से एक भाग खरीदना पसन्द नही करता था। उसके गुण भी मुझे अवगुण प्रतीत होने लगे।

एक गढा अछूता था। प्रेमान्ध की भॉति उसके प्रत्यक्ष दोष भी मै न देख सका। जमीदार महोदय ने मेरे सिर पर ऐसी उल्लू की लकडी फेरी कि मै छः महीने के लिए नही तो छः दिन के लिए अवश्य अन्धा हो गया। मैंने उस जमीन के कुछ दोप बतलाये किन्तु उन्होने कहा—बस, दो-ढाई सौ रुपये मे गढा भर जायगा, और जमीन एक रुपये गज से दो रुपये गज की हो जायगी। मालूम नही, पडित बसन्तलाल ने आदमी से गधा बनाने की विद्या, बिना बङ्गाल गये ही कहॉ से सीख ली थी। कहने के ढङ्ग मे जादू होता है। सत्तू के मुकाबले धान अच्छे बतलाये जा सकते है—"स··त्तू ३, मल··म त्तू ३, जब घो·रे ३, तब खा··ये ३, तब चले, धान विचारे भले, कूटे-खाये चले।"

दो सौ रुपये में गढा भर जाने की बात मे आ गया, और बात की बात मे बयनामा करा लिया। बयनामा के समय कचहरी का सच्चा अर्थ मालूम हो गया—"कचं केश हरतीति कचहरी।" जो कुछ जोड-बतोड, काढ-मूसकर रुपये ले गया था, सब उठ गये। हिन्दी का पक्षपाती होता हुआ

उर्दू की लिखाई के लिए रुपये खर्च किये। हक के भव्य नाम से पुकारी जाने वाली रिश्वत भी दी। मई के महीने की मुँह पर चपेट मारने वाली लू का तो कहना ही क्या था। स्वर्ग के स्वप्न को थोड़े ही मे वास्तविक रूप देना उसके लिए कुछ कठिन न था। पूर्वजो के पुण्य-प्रताप और आप लोगों के आशीर्वाद से सकुशल घर लौट आया। "जान बची लाखो पाये।" इतना सन्तोष अवश्य हुआ कि १।) रुपये साल का मालगुजार जमीदार बन गया। मालूम नही, अब मैं कर्ज के कानून का लाभ उठा सकूँगा या नही। (अब जमीदारी का भी स्वप्न गया।)

जमीन मिलते ही कारीगर व ठेकेदार उसी भाँति मँडराने लगे, जिस प्रकार मुर्दे को देखकर गिद्ध मँडराते है। मुझे भी अपनी महत्ता का भान होने लगा। जब से रियासत छोडी थी, लोग मेरे पीछे नही चलते थे और इक्के-ताँगे वालो के सिवा कोई मुझसे 'हुजूर' नही कहता था। अब एक-दम 'हुजूर', 'साहब' और 'गरीब-परवर', 'अन्नदाता' सब कुछ बन गया।

विघ्नों का भय सामने था, किन्तु मुझे महात्मा भर्तृहरि के वाक्य याद आये कि नीच लोग विघ्न के भय से कार्य प्रारम्भ नही करते—'प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः।' अच्छे धीर आदमी तो विघ्न आने पर भी अपने उद्देश्य से नही टलते—'विघ्नैर्पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमाना प्रारभ्य चोत्तम-जना न परित्यजन्ति।' मैं अपने को अच्छा ही आदमी सिद्ध करना चाहता था, और आँख बन्द कर गढे मे मकान बनाने के कार्यक्रम रूपी गढे मे कूद पडा। नक्शा बना, उसमे पैसे के सुभीते के अतिरिक्त सभी सुभीते देखे गये। लाख विश्वास दिलाने पर भी (केवल गङ्गाजली नही उठाई) ठेकेदार को विश्वास न हुआ कि मै गरीब आदमी हूँ। दिल्ली-दरवाजे मकान बनाने वाले सभी लोग सम्पन्न गिने जाते है, किन्तु ठेकेदार यह भूल जाता है कि काबुल मे भी गधे होते हैं।

बुद्धिमान पुरुष का यह कर्तव्य होता है कि पहले व्यय का अनुमान कराकर कार्य प्रारम्भ करे। मैं अनुमान इस भय से नही कराता था कि शायद भारी रकम देखकर कार्यारम्भ ही न कर सकूँ, और कही मेरा सोने का घर मिट्टी मे न मिल जाय। बिना आगा-पीछा देखे, गणपतिजगवन्दन विघ्नेश का नाम लेकर, नीव खुदना शुरू हुई। नीव के लिए मैं समझता था, गढे में होने के कारण कम खुदाई की आवश्यकता होगी। जिधर गढा नहीं था उधर थोडी ही दूर पर पक्की जमीन निकल आई और गढे की ओर जितना खोदा जाता उतनी ही पक्की जमीन दूर होती जाती। नीव जैसे-जैसे

नीचे जाती वैसे-वैसे ही मेरा दिल भी गढे में बैठता जाता। पृथ्वी पर जो कुदाली चलती वह मानो मेरी छाती पर ही चलती। लोग पूछते, क्या 'प्रोग्रेस' (उन्नति) हो रही है, मैं कहता, भाई, प्रोग्रेस नही, रिग्रेस (अवनति) हो रही है। नीव जितनी गहरी जाती उतना ही आशा का क्षितिज दूर हटता। मै सोचता—कही पुराने जमाने की बात न हो जाय कि नीव तब भरी जाती थी, जब पानी चूने लगे। खैर, राम-राम कर सात फीट पर पक्की जमीन के दर्शन हुए। उतनी ही प्रसन्नता हुई, जितनी जहाज के यात्री को समुद्र का किनारा देखने पर हो। कुछ किफायतशारी करने की बात चलाई। सभी ने मुक्तकठ से बडी बुद्धिमता प्रदर्शित करते हुए, तहखाने का परामर्श दिया, मानो तहखाना कोई ऐसा मतर था, जिससे मेरी कठिनाइयो का अन्त हो जायगा।

तहखाना बनना शुरू हुआ, और ईट-चूने का स्वाहा होने लगा। जनमेजय के नागयज्ञ की भाँति शाम तक एक-एक ईट का हवन हो जाता। जब काम जोरो से चला तो यदि ईट हो तो चूना नही, और चूना हो तो ईट नही। 'शाकाय वा लवणाय वा' की बात हो गई। दाल हो तो रोटी नही, और रोटी हो तो दाल नही।

मकान गढे में होने के कारण ठेकेदार को दीवारो को खूब विस्तृत करने का अवसर मिल गया। जितना दीवारो का आकार बढता उतना ही सुरसा के मुख की भाँति उसके बिल का विस्तार बढता। मै यह कहते-कहते थक गया कि भाई, मै घर बना रहा हूँ, किला नही, किन्तु वह यह कहते-कहते न थकता कि 'हुजूर, दरिया मे मकान बना रहे है, मुझे कुछ नही, आप ही को पछताना पडेगा।'

मेरे मित्र और सलाहकारो ने भी ठेकेदार का ही पक्ष लिया और मुझे ऐसा भय दिखलाया मानो प्रलय-पयोधि उमड़कर इस छोटे से गढे मे भर जाने वाला है या हजरत नूह के तूफान का प्रतिरूप उस तलैया मे तैयार होने की खबर मिली है। मुझे भी पचो की राय के आगे सिर झुकाना पडा, "पच कहे बिल्ली, तो बिल्ली ही सही।" मैने भी सोचा, "जब ओखली मे सर दिया तो चोटो से क्या डरना ?" चूने का बिल बडा लम्बा-चौडा आया। मेरे मित्र ने उसे देखकर कहा कि ठेकेदार और चूने वाले ने मिलकर अवश्य चूना लगाया।

लखनऊ-निवासी मेरे मित्र शिवकुमार जी ने आशीर्वाद दिया कि तुझे गढ़े मे गुप्त धन गढ़ा मिल जायगा। मैने कहा कि गढ़ा हुआ धन तो क्या

मिलेगा, किन्तु मैं अपना कठिनता से सचित किया हुआ धन ईंटों के रूप में पृथ्वी में गाढ रहा हूँ।

पुराने लोग भी धन जमीन मे ही गाढते थे। सनातन धर्म की रीति से मेरा रुपया वसुन्धरा वैक मे जमा होने लगा। मेरे एक मित्र ने मुझे घबराते हुए देखकर कहा, "अभी तो इब्तिदा-ए-इश्क है, रोता है क्या, आगे-आगे देखिए होता है क्या ?" मैने कहा, वस आगे यही होना है कि धन का स्वाहा कर सन्यास धारण कर लूं। पहले लोग वर्णमाला का इस प्रकार अर्थ लगाते थे—'क' से कमाओ, 'ख' से खाओ, 'ग' से गाओ, प्रसन्न रहो, और सब के पीछे घन और शक्ति रहे, तो 'घ' से घर बनाओ। मैं आजकल 'घ' को सबसे पहला स्थान दे रहा हूँ।

पक्की जमीन से दीवारे सात फीट ऊपर आई है। हाथी-डुवान नहीं, तो मुझ ऐसे शर्मदार, पस्तःकद और पस्तहिम्मत मनुष्य-डुवान तो नीव गहरी हो गई है। अशरफुल मखलूकात मैं हाथी से किस वात मे कम हूँ ? फिर भी अभी 'दिल्ली दूरस्त' को भाँति प्लिन्थ दूर है। शायद दिल्ली-दरवाजे मकान वनाने का प्रभाव हो। जिस वात को मैने दिल-वहलाव की चीज समझा था, वह अब ववाले-जान वन गई है। चन्दन घिसना ही दूसरा दर्द-सर हो गया है। लोग कहते है, "देर आयद, दुरुस्त आयद।" जली, पर सिकी अच्छी। अब तकलीफ उठाते हो तो पीछे से आराम मिलेगा। किन्तु भाई साहव ! मुझे तो नौ नकद चाहिए, तेरह उधार नही। अभी तो गढे की जमीन मे इतनी भी गुञ्जाइश नही कि एक छप्पर डाल कर दुपहरी मे (रात मे नही) वही सो जाया करूँ। रुपया खर्च करने पर इतना ही सतोप मिला है कि एक दिन की वर्पा से गढे भर जाने के कारण वेद-ध्वनि से समता रखने वाली दादुर-ध्वनि चारो ओर से सुनाई पड़ी है, और वावा तुलसीदासजी की निम्नलिखित चौपाई याद आ जाती है—

'दादुर धुनि चहुं ओर सुहाई,
वेद पढहिं जिमि वटु समुदाई।'

पहले जमाने मे वेद-पाठ सुनने के लिए राजा-महाराजा लोग हजारों रुपया खर्च कर देते थे। इस कलियुग मे दादुर-ध्वनि सुनने के लिए पाँच-सात हजार खर्च हो जायँ, तो कौन बुराई है ? दूसरा सन्तोप यह है कि मैं स्वय ठग गया, दूसरे को नही ठगा। कबीरदास की भी यही शिक्षा है—

'कबिरा' आप ठगाइए, और न ठगिए कोय।
आप ठगा सुख होत है, और ठगे दुख होय॥

रोज प्रातःकाल ईंटों के तकाजे के लिए भट्टे पर जाना पडता है। साम 'दाम-दण्ड-भेद सब उपाय करने पर दो हजार ईंटें पहुँच पाती है, जिसे हमारे विश्वकर्मा के अवतार मिस्टर भोदाराम कान्ट्रैक्टरजी 'ऊँट के मुँह के जीरे' से भी कम बतलाते है। मेरी चरम साधना के फल को इस प्रकार तिरस्कृत होते देखकर सात्त्विक रोष आ जाता है। मैं चाहता हूँ कि इन सब झंझटो से कही दूर भाग जाऊँ। शगल बहुत हो लिया, उससे आरी आ गया, किन्तु अब दूर भी नही भागा जाता। साँप-छछूँदर की-सी गति हो रही है। मेरा उस साधु का-सा हाल हुआ जिसने कम्बल के धोके तैरते हुए रीछ को पकड़ लिया था फिर उस कम्बल को छोड़ना चाहता था लेकिन कम्बल उसे नही छोड़ना चाहता था। कहाँ प्रातःकाल का ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्य-रसास्वादन और कहाँ ईट के भट्टो की हाजिरी ? कहाँ वेदान्तवार्ता और कहाँ भुस का भाव ? किन्तु अब क्या किया जाय ?

"सो माया बस भयौ गुसाई,
बँध्यौ कीर-मरकट की नाईं।"

बस, मायाधीश भगवान् ही इस मायाजाल से मुक्त करे तो मुक्त हो सकता हूँ, नही तो कोई छुटकारा नही। त्राहि माम्! त्राहि माम्! त्राहि माम्!

२

मुसलमानो के यहाँ मुसव्विरी करना गुनाह समझा जाता है, क्योकि चित्रकार एक प्रकार से खुदा की बराबरी करने की स्पर्द्धा करता है। शायद इसीलिए अल्लाह-ताला लेखको से भी नाराज रहते है क्योकि वे भी अपने रचनात्मक कार्य द्वारा परमात्मा की होड करते है। कवियो ने अपनी रचना को एकदम परमात्मा की सृष्टि से भी बढा हुआ बतला दिया है। काव्यप्रकाश के कर्त्ता मम्मटाचार्य ने कहा है कि कवि की भारती विधि की सृष्टि से परे और शुद्ध आह्लाद से बनी हुई है। भगवान् की सृष्टि मे तो शुद्ध आह्लाद बिजली के प्रकाश मे भी खोजने पर बडी मुश्किल से मिलता है किन्तु लेखक अपनी कल्पना की उडान मे उसे सुलभ बना देते है। फिर परमात्मा लेखकों से क्यो न रूठे ? यदि लेखक लोग शब्दो के महल और हवाई किलो के अलावा ईट-चूने के मकान बनाने का भी साहस करे तो नीम चढे करेले की वात हो जाय। ईश्वर मनुष्य को इस डवल स्पर्द्धा को कहाँ सहन कर सकते ?

मेरे साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। ठोक-पीटकर लोगो ने मुझे लेखक-राज बना ही दिया और मैं स्वय भी अपने को पाँच सवारो मे गिनने लग गया। अपने को बड़ा आदमी समझने के कारण ही छतरपुर से नौकरी

छोड़ने के पश्चात् दूसरी जगह की नौकरी न निभा सका। नौकरी करना तो टेढी खीर है। उसमे वड़े आत्म-सयम की जरूरत है, किन्तु मै तो जैन वोर्डिंग हाउस के लड़कों को कायदे के घेरे मे वन्द रखने का वाइज्जत काम भी न सँभाल सका। अव यदि इतने पर भी सन्तुष्ट रहता तो गनीमत थी—वाप-दादों की नही, अपनी ही भलमनसाहत लिये वैठा रहता तव तक विशेष हानि नही थी।

दूसरे प्रोफेसरो को कोठियो मे रहते देख (मै भी प्रोफेसरो मे करीव-करीव वेमुल्क का नवाव हूँ) मुझे भी कोठी वनाने का शौक चर्राया। मेरे सामने दो आदर्श थे। श्री भोदारामजी ठेकेदार तो चाहते थे कि अकवर की इस नगरी मे कम से कम लाल पत्थर के किले की टक्कर का एक दूसरा किला वनवाऊँ और मेरी इच्छा थी कि अपने पड़ोस के काछियो के अनुकरण मे एक झोपडी डाल लूँ। इन्ही परस्पर विरोधिनी इच्छाओ के फलस्वरूप मेरा मकान तैयार हो गया जो अभी सामने से एक-मजिला है और पीछे से दुमजिला है।

मैं चाहता तो था झोपडी ही वनाना, परन्तु जिस प्रकार पूर्व-जन्म के सस्कारो पर विजय पाना कठिन हो जाता है उसी प्रकार नीव की दीवारे चौडी चिनकर उन पर झोपडी वनाना असभव हो गया। प्रत्यक्ष रूप से मूर्ख कहे जाने का भार अपने ऊपर लेने को मैं तैयार न था। जव लोग इतनी वडी ब्रिटिश सरकार को 'टॉप हेवी' कहने मे नही चूकते, तो मेरे मकान को 'वॉटम हेवी' कहने से किसका मुँह वन्द किया जाता। 'टॉप हेवी' के लिए तो एक वहाना भी है—'सिर वडा सरदार का', मेरे पास कोई वहाना न था। मैं शहर मे रहकर गँवार नही वनना चाहता था। मकान कुर्म से क्या लकडी से भी न पटा, उसमे डाटें लगाई गई। उस सम्वन्ध मे मेरे छोटे भाई वावू रामचन्द गुप्त तथा मेरी श्रीमतीजी के वडे भाई लाला रानीचरणजी ने ठेकेदार महोदय को कई वार डाट-फटकार वताने का मौका पाया।

अव मैं डाट का अर्थ समझ गया—डाट ईंट-चूने की उस वनावट को कहते है जो सदा अपना भार लिये धूप और मेह के साथ रण मे डटी रहती है किन्तु उसे डटी रखने के लिए स्वय धूप और मेह की परवाह न करके डटा रहना पडता है और समय-समय पर ठेकेदार को भी डाट देनी पडती है। इस प्रकार मेरा शब्दकोष (अर्थकोष नही) वहुत वढ गया है। अव मै कुछ डाट, तोडा, हॉफ-सेट, होल-सान, नासिक, चश्मा, ठेवी आदि वास्तुकला

के पारिभाषिक शब्दों का अर्थ समझने लगा हूँ। एक बात और भी मालूम हो गई है। आजकल की सभ्यता की काट-छाँट का प्रभाव वास्तुकला पर भी पडा है। इस युग मे मूँछे कट-छटकर तितली बनी और फिर तितली बनकर उड गई। कोट आधे हो गये। पेंट भी शॉर्ट हो गई। कमीज की बाँहे और गले मुख्तसर बनने लगे। जूतो का स्थान चप्पल और सैण्डलो ने ले लिया। नाटक एकाङ्की ही रह गया। इसी प्रकार मकानो मे चौखट न बनकर तिखट बनने लगी। आजकल की चौखटो के नीचे की बाजू नही होती। सूर के बालकृष्ण को देहली लाँघने मे जो कठिनाई हुई थी वह मेरे नाती-पोतो को नही होगी।

अर्थकोष के क्षय के साथ शब्दकोष की वृद्धि उचित न्याय है—'एवज मावजा गिला न दारद।' इधर का लेखा उधर बराबर हो गया। और नही तो परिवृत्ति अलकार का एक नया उदाहरण मिल गया है। बेर देकर मोती लेना कहूँ या इसका उल्टा ?

जिस प्रकार शुरू मे जनमेजय के नागयज्ञ की तरह ईंट-चूने का स्वाहा होता था उसी प्रकार पीछे धन का स्वाहा होने लगा, और मैं भी घर-फूँक तमाशा देखने का अस्पृहणीय सुख अनुभव करने लगा। एक के बाद दूसरी पासबुक चुकती हुई, फिर कैश-सर्टिफिकेटो पर नौबत आई और पीछे रिजर्व बैंक के शेयर वारट भी, जो भाग्यशालियो को ही मिले थे, अछूते न रहे। वे बेचारे भी काम आये। मैं 'पुरुष-पुरातन की वधू' के मादक ससर्ग से मुक्त हो गया। अस्तु, यह थोडा लाभ नही। कविवर बिहारीलाल ने कहा है—

"कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वा खाये बौराय नर, या पाये बौराय॥"

अब मुझे कनक (धन) मद न सता पायगा, और मैं बौराया न कहाऊँगा। दार्शनिक के नाते यदि कोई मुझे पागल कह लेता, तो मैं इसे दार्शनिक होने का प्रमाणपत्र मानकर प्रसन्न होता, किन्तु धन-मद से लाञ्छित होना मैं पाप समझता हूँ। काग्रेसी मन्त्रिमण्डल पर अनन्त श्रद्धा रखता हुआ भी मैं यह कहने को तैयार हूँ कि धन के मद से तो भग-भवानी और वारुणी देवी का मद ही श्रेयस्कर है। इसमे अपना ही अपमान होता है, दूसरे का तो नही।

एक महाशय ने मेरे घर के तहखाने को देखकर कहा कि आपके घर में ठण्डक तो खूब रहती होगी ? मैने उत्तर दिया, जी हाँ, जब रुपये की गर्मी

न रही, तव ठण्डक रहना एक वैज्ञानिक सत्य ही है। इस पर उन्होंने तहखानों के सम्बन्ध में सेनापति का निम्नलिखित छन्द सुनाया—

"सेनापति ऊँचे दिनकर के चुवति लुवै,
नद नदी, कुँवै कोपि डारत सुखाइ कै।
चलत पवन, मुरझात उपवन, वन,
लाग्यौ है तपन, डार्यो भूतलो तपाइ कै।
भीषम तपत रितु, ग्रीषम सकुचि तातै,
सीरक छिपी हैं, तहखानन में जाइ कै।
मानौ सीत-कालै सीत-लता के जमाइवे कौ,
राखे हैं विरंचि वीज धरा मे धराइ कै।"

मैंने कहा, भाई साहव, वस्तु हाथ से गई, फिर छाया भी न मिले, तो पूरा अत्याचार ही ठहरा। पहले के लोगो के तहखाने धन से भरे रहते थे, अव छाया ही सही। यदि गेहूँ नही तो भूसा ही गनीमत है।

धन का रोना अधिक न रोऊँगा। अव और लाभ सुनिए। वाहर मकान वनाने का सवसे वडा प्रलोभन यह होता है कि उसमे थोडी सी खेती-वारी करके अपने को वास्तव मे शाकाहारी प्रमाणित किया जाय। मेरी खेती भी उन्ही लोगो की सी है जिनके लिए कहा गया है—

"कर्महीन खेती करै, वर्ध मरे या सूखा परै।"

जव घर वनवाने के लिए डेड रुपया रोज खर्च करके दूसरे के कुएँ से पैर चलवाकर हौज भरवा लेता था तव तक ही खेती खूब हरी-भरी दिखलाई देती थी। माली महोदय भी "माले मुफ्त दिले वेरहम" की लोकोक्ति का अनुकरण करते हुए पानी की कजूसी न करते थे। उन दिनों चाँदी की सिंचाई होती थी, फिर भी शाक-पात के दर्शन क्यों न होते? पालक के शाक की क्यारी तो कामधेनु सिद्ध हुई जितनी काटते उतनी ही वढ़ती। वह वास्तविक अर्थ मे पालक थी। गोभी के फूल भी खूव फूले। उन्हे अधिकार से खाया भी, क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीता में फलो का ही निषेध किया गया है, पत्तों और फूलों का नही। भगवान् ने कहा है—"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेपु कदाचन।" किन्तु जव मकान वन चुका तो अपने-ही-आप पानी देने की नौवत आई। अव तो श्रीमद्भगवद्गीता का वाक्य अक्षरशः सत्य होता दिखलाई देता है। दिन सींचने मे निष्काम कर्म का आनन्द मिलता है। मेरी गली पर; मालूम नहीं, अगस्त्यजी की छाया पड गई है कि जल मे प्लावित क्यारियों मे शाम तक पानी का लेशमात्र भी नही रहने पाता। वात्रा

तुलसीदासजी का अनुकरण करते हुए कह सकता हूँ—जैसे खल के हृदय में सन्तों का उपदेश। भगवान् की तरह मैं भी कुएँ पर खडा रीतों को भरा और भरो को रीता किया करता हूँ। मालूम नही भगवान् इस स्पर्द्धा का क्या बदला देगे? इतना सन्तोष अवश्य है कि मेरे कुएँ का पानी मीठा निकला है। इसे मैं पूर्वजो का पुण्य-प्रताप ही कहूँगा। कुएँ का जल ऐसा है कि कभी-कभी मुझे कसम खानी पडती है कि यह नल का नही है। "तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणः क्षार जल कापुरुषाः पिवन्ति।" अर्थात् बाप-दादों का कुआँ है, ऐसा कहकर कायर पुरुष खारा पानी पीते है। सौभाग्य से मेरी सन्तान के लिए ऐसा न कहा जायगा।

मेरी खेती से मुझे सिर्फ इतना ही लाभ हुआ है कि पौधो की थोड़ी-बहुत पहचान हो गई है। मै लौकी और काशीफल, टिंडे और करेले के पत्तों मे विवेक कर सकता हूँ। मै देहली दरवाजे रहते हुए भी देहली के उन लोगों मे से नही हूँ जिन्होने कभी अपनी उम्र मे चने का पेड नही देखा। बहुत कुछ जमा लगने पर मै यह तो न कहूँगा कि कुछ न जमा। जमा सिर्फ इतना ही कि मेरे यहाँ की भूमि बन्ध्या होने के दोष से बच गई। जिस प्रकार हजरत नूह की किश्ती मे सब जानवरो का एक जोडा नमूने के तौर पर बच रहा उसी प्रकार मेरी खेती मे विद्यार्थियो की शिक्षा के लिए दो-दो नमूने हर एक चीज के मिल जायँगे और बाबा तुलसीदासजी के शब्दो मे यह न कहना पडेगा—

'ऊसर बरसे तृण नहि जामा।
संत हृदय जस उपज न कामा॥'

जमीन को क्यों दोष दूँ? मेरी खेती पर चिडियों की भी विशेष कृपा रहती है। वे मेरे बोए हुए बीज को जमीन मे पडा नही देख सकती और मैं भी खेत चुग लिये जाने के पूर्व सचेत नही होता। फिर पछताने से क्या?

मै अपनी छोटी-सी दुनियाँ मे किसानो की अतिवृष्टि, अनावृष्टि, शलभा:, शुकाः सभी ईतियो का अनुभव कर लेता हूँ। सोचा था—वर्षा के दिनो मे खेती का राग अच्छा चलेगा किन्तु गढे मे होने के कारण साधारण वृष्टि भी अतिवृष्टि का रूप धारण कर लेती है। दो रोज की वर्षा मे ही जल-प्लावन हो गया। सृष्टि के आदिम दिनो का दृश्य याद आ गया। मुझे भी अभाव की चपल बालिका चिन्ता का सामना करना पडा। पसीना बहा-कर सीचे हुए वृक्ष, जिन्हे बडी मुश्किल से ग्रीष्म के घोर आतप से बचा पाया था, जल-समाधि लेकर विदा हो गये। जीवन (जल) ही उनके जीवन का घातक बन गया।

मैं अपने मकान तक पहुँचने के रास्ते के सम्बन्ध मे दो एक बात कहे बिना इस लेख को समाप्त नही कर सकता। उससे मुझे जो लाभ हुआ है वह उमर भर नही हुआ था। मैंने अपने जीवन में इस बात की कोशिश की थी कि दूसरो को धोका न दूँ, इसलिए मुझे गालियाँ भी शायद ही मिली हों। लेकिन इस सडक की बदौलत इक्के-ताँगेवालो से रोज गालियाँ सुननी पड़ती हे। पीठ फेरते ही वे कह उठते है—"बेईमान! दिल्ली दरवाजे की कहकर गाँव के दगडे मे खीच लाया है।" मैं भी उनकी गालियो का विवाह के समान आदर करता हूँ, और चुङ्गी के विधायकों का स्मरण कर लेता हूँ कि "कबहुँक दीनदयाल के भनक पडैगी कान।" गाँव की सडकें भी इसकी प्रतिद्वन्द्विता नही कर सकती। वन जाते हुए श्रीरामचन्द्रजी के सम्बन्ध मे तुलसीदासजी ने कहा है—"कठिन भूमि कोमल पदगामी।" मेरे लिए शायद उन्हे कहना पडता—"कोमल भूमि कठिन पदगामी।" पवित्र ब्रज-रज तथा खाके वतन से पूर्ण इस सडक मे जूते इस प्रकार से समा जाते है जैसे किसी साहब के ड्राइंगरूम के सोफे मे शहर के किसी मोटे रईस का सारा शरीर। यदि कही जूतों को धूलि-धूसरित होने से बचाकर उनकी शान रखना चाहूँ, तो दूसरो की कोठी मे ट्रैसपास करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नही। किन्तु इसमे मेरी शान जाती है। दूसरी कोठियो के निवासी वाणी से तो नही किन्तु कभी-कभी मधुर व्यंग्य द्वारा अवश्य विरोध करते हैं।*

रात्रि को जब घर लौटता हूँ तो कबीर के बताये हुए ईश्वर-मार्ग की कनक और कामिनी रूपिणी बाधाओ के समान 'सूद' और 'लाल' की कोठियाँ मिलती हे। पदध्वनि सुनते ही उनके श्वान देव उन्मुक्त कण्ठ से मेरा स्वागत करते हैं। उनके लिए मुझे दण्डधारी होकर कभी-कभी उद्दण्ड होना पडता हे। अब मुझे इन स्वामिभक्त पशुओ के नाम भी याद हो गए हैं। एक का नाम टाइगर है और दूसरे का नाम कालू। नामोच्चारण करने से दण्ड का प्रयोग नही करना पड़ता। जब इन घाटियों को पार कर लेता हूँ तभी जान मे जान आती है। हमारे घरो में ही बिजली का प्रकाश है किन्तु रास्ते मे पूर्ण अन्धकार का साम्राज्य रहता है और मुझे उपनिषदों का वाक्य याद आ जाता है "असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता।" मालूम नहीं उसके लिए कौनसे पाप का उदय हो जाता है। "तमसो मा ज्योतिर्गमय"

---

*चुङ्गी की कृपा से अब कोलतार की सड़क बन गई है। इस काली सड़क ने मेरा और चुङ्गी का मुँह उज्ज्वल कर दिया है किन्तु यह प्रेम गली की भाँति अति साँकरी है 'जा में दो न समायँ।'

की प्रार्थना करता हुआ जैसे-तैसे राम-राम करके घर पहुँचता हूँ। रोज सबेरा होता है और उन्ही मुसीबतो का सामना करना पड़ता है।

इन सब आपत्तियो को सहकर भी बस इतना ही सतोष है कि उन्मुक्त वायु का सेवन कर सकता हूँ और बगीचे के होते हुए मुझे यह समस्या नही रहती कि क्या करूँ? जूतियाँ सीने से अधिक श्रेयस्कर काम मिल जाता है। शास्त्रकारों का कथन है—

"बेकार मुवाश कुछ किया कर,
यदि कुछ न हो तो जूतियाँ सीया कर।"

और कुछ नही होता तो खुरपी लेकर क्यारियो को ही निराता रहता हूँ, और चतुर किसानो मे अपने गिने जाने की स्पर्द्धा करता रहता हूँ— "कृषी निरावहि चतुर किसाना।" प० रामनरेश त्रिपाठी ने सन की गाँठ के आधार पर बाबा तुलसीदासजी को किसनई का पेशे वाला प्रमाणित किया है। इस बात से मुझे एक बडा सन्तोष हो जाता है कि और किसी बात मे न सही तो खेती के काम मे ही भक्त-शिरोमणि की समानता हो जाय। (अब मैं इस सुख से भी वञ्चित होता जा रहा हूँ। मेरी रुग्णावस्था मुझे उस निष्क्रियता की दशा की ओर प्रेरित कर रही है जो एक सच्चे वेदान्ती के लिए अपेक्षित है।)

अब मेरा यह निष्कर्ष है कि मुझ जैसे बेकार, सकल-साधन-हीन आदमी को—जिसके यहाँ न कोई सवारी-शिकारी और न दो-चार नौकर-चाकर है (वैसे तो हमारे उपनिवेश के सभी लोग 'स्वय दासास्तपस्विनः' वाले सिद्धान्त के मानने वाले है)—कोठी बनाकर न रहना चाहिए।

[*'मेरी असफलताएँ'*]

नोट—काली सडके भी खुद-खुदाकर गाँव के दगडे का रूप धारण कर रही है। बारह वर्ष में घूरे के भी भाग जागते है। किन्तु हमारी गली की सडक सन् १९५९ में भी इस कहावत पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाये हुए है। प्रकाश की समस्या किसी अश में हल हो गई है।

मेरे नापिताचार्य !

मैं जन्म से वैष्णव हूँ। सभामध्ये ही नही, वरन् अन्तःकरण से भी वैष्णवता का पालन करता हूँ। जैनी मेरे पडोसी और मित्र है। खद्दर और चर्खा को छोड़कर, जिनको मै पहले अंग्रेजी राज्य मे भयवश और अब आलस्यवश नही अपना सका, महात्मा गांधी का अनन्य भक्त हूँ। इस प्रकार मैं करेला और नीमचढा ही नही, वरन् त्रिधाशुद्ध 'अहिंसा परमो धर्मः' का अनुयायी हूँ। इसलिए रक्तपात से, चाहे अपना हो या पराया, मैं सदा बचता रहा हूँ। मधुमेही होने के कारण मुझे अङ्गक्षतो के सदोप हो जाने की सदा आशङ्का बनी रहती है, इसलिए भौतिक विवशता को धर्म मानकर मैं अपने को रक्तपात से बचाये रखने की ओर विशेष ध्यान रखता हूँ। इसी भय से साम्प्रदायिक झगडो के पास नही फटकता। फिर भी जब मैं आधुनिकतम सुशिक्षित लोगो के अनुकरण मे 'स्वयशेवक' वृत्ति को धारण किए हुए था और 'स्वय दासाः रतपस्विनः' की श्रेणी मे आने के लिए प्रयत्नशील रहता था, तब मैं अपने को स्व-रक्तपात से नही बचा सका। अभी तक अखबारी विज्ञापनो का नित्य स्वाध्याय और पारायण करने पर भी मेरी जानकारी मे ऐसा कोई अकाशलोपेक्षक, सुरक्षापूर्ण क्षौरयन्त्र नही आया है, जो मुझ जैसे मूर्ख और अकार्यकुशल व्यक्ति को चुनौती दे सके। रक्तपात के भय से ही वैदिक लोग मुण्डन सस्कार से पूर्व छुरे की प्रार्थना किया करते थे। जिलेट से लगाकर ढाई आने तक के उस्तरो को मैंने आजमाया, किन्तु वे मुझे अपने रक्तपात से बचाने मे उतने ही असमर्थ रहे, जितनी कि यू० एन० ओ० की सुरक्षा-परिषद् राष्ट्रो को रक्तपात से बचाने में। बाल बीरवधूटी सी एक-आध रक्तबिन्दु मेरे मुख-मण्डल पर झलक ही आती थी और मेरे शरीर मे रक्तकोप मेरे बैंक के धन-शेष से अधिक सम्पन्न नही है। इसीलिए अपने जीवनकाल मे ही अपने सैफ्टीरेजर का उत्तराधिकार अपने द्वितीय पुत्र को, जो डाक्टर है, प्रसन्नतापूर्वक सौंप दिया है। 'अन्तहु तोहि तजैंगे पामर तू काहे न तज अब ही ते' के गोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा प्रतिपादित वैराग्यपूर्ण उपदेश को मैंने कम से कम एक वस्तु के सम्बन्ध में सवा सोलह आने रूप से अपना लिया है।

मैं उन स्वच्छतावादियों मे से नहीं हूँ जो अपने मुख-मडल पर एक रात की उपज को सहन नहीं कर सकते और चाणक्य की तत्परता से नित्यप्रति

उसका मूलोच्छेदन करते है। मैं चेहरे की वास्तविक स्याही की अपेक्षा आलङ्कारिक स्याही से बचने की अधिक चेष्टा करता हूँ। अब तो भगवान् ने बालो की कालिमा को भी दूर कर दिया है। भगवान् की बिना परिश्रम की देन को यदि मैं अपने खालसा भाइयो की भाँति सर-माथे रखकर अपनाता नही हूँ, तो उसका अत्यन्त तिरस्कार भी नही करता। मौत की भाँति मैं नाई की बला को टालता रहता हूँ और यदि स्वीकार भी करता हूँ तो आपत्ति-धर्म के रूप मे।

मेरे नापित महोदय श्री बेनीरामजी से मेरा बहुत पुराना परिचय है, कम से कम तब का जब कि मैं सेकण्ड ईयर मे पढता था। वे भी मेरी तरह से अर्द्ध-प्राचीनतावादी जिजमानी-वृत्ति करने वाले नाइयो मे से है। नाई शब्द अरबी मे भी है। वहाँ वह मौत की खबर लाने वाले का बोधक है। शायद अरब के लोगो को यहाँ के लोगो की अपेक्षा क्षौरकार का कम काम पडता है, इसीलिए उसके नाम से ऐसे अशुभ सस्कार लगे हुए है। हमारे यहाँ तो वह जन्म की मङ्गल-दूब भी लेकर जाता है। मालूम नही, हमारा नाई शब्द अरबी के नाई की सन्तान है अथवा उसका जन्म सस्कृत के 'नापित' से 'प' और 'त' के लोप से हुआ है! हमारे बेनीरामजी जब दूसरे, चौथे, आठवे दिन अतिथि की भाँति दर्शन देते है, तब वे प्रातःकाल ही अपने मस्तक पर स्नान-ध्यान कर लेने का चन्दन-कुकुम का मङ्गलमय प्रमाणपत्र लेकर आते है और अपने शुद्ध सस्कृत 'नापित' नाम के व्युत्पत्त्यर्थ को (स्नापितः अर्थात् स्नान कराया हुआ, क्योकि पूर्वकाल मे क्षौरकर्म कराने से पूर्व नाई को नहला लिया जाता था) शब्दशः सार्थक करते है। मालूम नही, पुराने जमाने के लोगो को नाइयो से क्या बैर था, जो यह लोकोक्ति प्रसिद्ध हो गई—'नराणा नापितो धूर्तः पक्षिणा चैव वायसः।' हमारे नापितदेव तो अपनी सज्जनता से इस कथन को शशश्रृङ्गवत् मिथ्या और अप्रामाणिक सिद्ध कर देते है।

भूतभावन भगवान् शङ्कर जिस प्रकार स्वय दिगम्बर, विरूप और कपाली रहकर भी दूसरो को श्री और सम्पदा प्रदान करते है, ठीक उसी प्रकार बेनीरामजी अपने वाल बढाये रखकर भी दूसरो के मुख-मडलो पर पालिश द्वारा उनकी श्रीवृद्धि किया करते है। कभी-कभी जब किसी पार्टी आदि मे जाना होता है, तो वे भगवान् के वरदानस्वरूप 'करुणा मे वीर रस' की भाँति उपस्थित हो जाते है और कभी वे मास-पखवारे की गणना को अपने मन से बिलकुल भुला देते हैं।

मेरे नापितदेव न तो वामन ही है और न विशालकाय। मेरी बुद्धि की भाँति वे भी मध्य श्रेणी के हे, और कुछ लघुता की ओर झुके हुए है। जैसा उनका मुख, वैसी उनकी छोटी मूँछे और आँखे है। उनका छोटे अण्डाकार शीशो वाला, डेढ़ कमानी का चश्मा उनके गाम्भीर्य और वार्द्धक्य को बढ़ाता रहता है। जैसे मैं अपनी पोशाक की व्यवस्था सम्हालने मे असफल रहता हूँ, वैसे ही वे अपनी पेटी की व्यवस्था सुधारने में असमर्थ रहते है, क्योकि वह पेटी उनके स्वरूपानुरूप है। पेटी का आवरण-पट, जो वाल कटाने वाले यजमानो का भी वालो की वाण-वर्षा से सुरक्षित रखने मे रक्षा-कवच बनता हे, सावुन के प्रयोग से उतना ही अछूता रहता है, जितना कि आजकल का विद्यार्थी भगवन्नाम से। उसको स्वच्छ रखने के उपदेश उनके ऊपर उतना ही प्रभाव रखते हे जितना कि 'कामी वचन सती मन जैसे', फिर भी मैं उनका स्वागत करता हूँ, क्योकि वे मुझे स्व-रक्तपात से वचाये रखते है। वाल तो (कान नही) वे वडे-वडे आदमियो के भी काटने का गौरव रखते है। वड़े-वडे आदमी भी रुपया वचाना चाहते हैं। नाई की दूकान पर जाने मे उनकी शान घटती है और अच्छे नाई को घर पर वुलाने मे जेव कटती है। हाँ, तो वेनीराम जी वाल काटने मे अपने को किसी से कम नही समझते। किन्तु उस कला मे उनकी गति उतनी ही है जितनी कि मेरी वँगला वोलने मे (वङ्गाल पहुँच जाऊँ तो भूखा-प्यासा नही मरूँगा)। उनकी वाल काटने की कला मे मुझे इससे प्रधिक योग्यता की आवश्यकता भी नही, क्योकि भगवान् ने मुझे निर्धनी रखकर भी खल्वाट वना रक्खा है। किन्तु जव कभी छटे-छमाहे किसी प्रकार वे मुझको वाल काटने को राजी कर लेते हे, तो आध घण्टे तक पीछा नही छोड़ते। मेरे अवकाशाभाव की वात को इतना ही सत्य समझते हे जितना कि लेखक लोग लौटाये हुए लेख पर 'स्थानाभाव के कारण सधन्यवाद वापस' के हृदयद्रावक सम्पादकीय नोट को।

साधारण शेव मे भी वेनीरामजी कलाकार का कर्त्तव्य और उत्तर-दायित्व निभाना चाहते हे। एक वार के शेव में उनका सन्तोप नही होता है। वे सच्चे कर्मयोगी हे, जव तक मन भर कर अपनी कला का प्रदर्शन न कर लें तव तक वे अपने को कृत्कार्य नहीं समझते। पैसे से उनको मतलव अवश्य रहता हे, किन्तु यजमान की इच्छा के विरुद्ध भी जव तक काम पूरा न कर लें, तव तक वे अपने को कर्त्तव्यच्युत समझते है। भले आदमी की जवान की भाँति मैं शेव भी दो वार नही चाहता, किन्तु मेरे नापित महोदय इसको मेरी सवसे वुरी आदत समझते हैं। कभी-कभी मुझे उनकी इस वात से सन्तोप होने लगता है कि यदि मुझ मे सवसे वुरी आदत यही है, तो वास्तव

मे भला आदमी हूँ। जब कभी उनका उस्तरा भाहा-का आज-सम्हाल की ओर अपने आक्रमणकारी पग बढाता है, तब समय के उस दुरुपयोग पर मुझे सात्विक क्रोध आ जाता है और भगवान् से 'त्राहि माम्! त्राहि माम्!' की पुकार कर मैं प्रार्थना करने लगता हूँ कि 'हे ईश्वर, मुझे ऐसे कर्त्तव्यपरायण कलाकारो से परित्राण दे!' वे इस क्रोध को सच्चे तपस्वी की भाँति क्षमा कर देते है। 'क्षमारूप तपस्विनाम्।'

अपनी जाति के अन्य व्यक्तियो की भाँति वे भी चलते-फिरते समाचार-पत्र है और चूँकि मै कोई स्थानीय पत्र नही खरीदता, अतः उनकी इस वृत्ति का स्वागत करता हूँ। विशेषकर साम्प्रदायिक झगड़ो के दिनो मे उनकी ये सेवाएँ बहुमूल्य थी।

मै चाहता हूँ कि उनमे कुछ सुधार हो, किन्तु वे चर्चिल की भाँति अपरिवर्तनवादी है। 'कारी कामर चढै न दूजो रग'। मै भी उनको अपने दोषो की भाँति 'अगीकृत सुकृतिनः परिपालयन्ति' के न्याय से अपनाये हुए हूँ। मुझसे जिजमान तो उनके लिए बहुत से है, किन्तु मुझे इतना सुलभ नाई कठिनता से मिलेगा। वे मुझे राजामडी के यातायात के कष्ट और नाई के सैलून की प्रतीक्षा की झझट से बचाये रखते है। इसीलिए उनमे सफाई की अव्यवस्था होते हुए भी मै कविकुल-गुरु कालिदास की 'एकोहि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः' वाली बडे-बडो को कलङ्कमोचनी उक्ति के आधार पर उस अवगुण की उपेक्षा कर देता हूँ और निस्सकोच उनसे कह देता हूँ कि 'हमसे तुमको बहुत है, तुमसे हमको नाहि।'

[*'मनोरंजन'*]

नोट—मुझे अत्यन्त खेद है कि वे अब स्वर्गवासी हो गये। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे। अब उनका स्थान श्री सुम्हेरसिहजी ने ले लिया है। वे अपने ही पेशे में माहिर नही हैं वरन् इल्म-तैराकी में भी इकता है। उनके पूज्य पिताजी तैराकी में 'खलीफा' पद से विभूपित थे किन्तु वे आलस्यवश ही इस वशानुगत पद को प्राप्त नही कर सके। वे गान-विद्या में भी दक्ष हैं। अपनी श्रेष्ठता बनाये रखने के कारण यजमानी वृत्ति से यथासम्भव बचते है। वे जिमींदारी और कुलीनता के पक्षपाती और छूआछूत मिटाने के प्रबल विरोधी है। सरकार की आलोचना करने में बहुत से वामपक्षी अखबारों के भी कान काटते है।

व्यापार-सम्बन्धी

व्यापारे वसति लक्ष्मी

लक्ष्मीजी का निवास-स्थान व्यापार में है। जिस प्रकार लक्ष्मी व्यक्ति और देश की श्री-समृद्धि की अधिष्ठातृ देवी है उसी प्रकार व्यापार देश की सभ्यता का मापदण्ड ही नही, जीवन-रस भी है।

सस्कृत मे व्यापार शब्द का व्यापक अर्थ 'क्रिया' है। संस्कृत, हिन्दी और बङ्गला मे (कुछ अधिक मात्रा मे जैसे 'ए व्यापारटा की') अब भी व्यापक अर्थ मे इसका प्रयोग होता है किन्तु अपने सकुचित अर्थ मे यह अँग्रेजी Business शब्द का पर्याय बन गया है। इस सकुचित अर्थ मे व्यापार उन क्रियाओ को कहते है जो आर्थिक लाभ की दृष्टि से की जायँ। इस प्रकार उद्योग-धन्धे भी व्यापार के ही अङ्ग है क्योकि व्यापार इनके बिना पगु रह जाता है, यद्यपि बहुत सकुचित अर्थ में व्यापार क्रय-विक्रय मे ही सीमित रहता है तथापि जिस प्रकार बिना बॉस के बाँसरी का अस्तित्व नही, उसी प्रकार उद्योग-धन्धो के बिना व्यापार निराधार रह जाता है।

लक्ष्मीजी व्यापारी-वर्ग की उपास्या देवी है। जिस प्रकार गृहस्थाश्रम पर सारे आश्रम निर्भर रहते है, वैसे ही देश के सारे कार्य लक्ष्मीजी के अधिष्ठान व्यापार मे आश्रित रहते है। 'सर्वे समारम्भा तण्डुलपृष्ठमूलाः।' जीवन के आर्थिक मूल्य यद्यपि अन्तिम मूल्य नही है तथापि सभ्यता के विकास मे आध्यात्मिक प्रेरक शक्तियो के साथ-साथ आर्थिक शक्तियो की प्रेरणा भी रही है।

मार्क्सवाद सभ्यता की प्रेरक शक्तियों को आर्थिक प्रेरणा में सीमित कर देता है, यही उसकी एकाङ्गिता है। हम भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही आवश्यकताओं मे से किसी एक की उपेक्षा नही कर सकते हैं। हमको लक्ष्मी और सरस्वती दोनों की पूजा करनी होगी।

इस पृष्ठभूमि के साथ विषय को सीमित रखने के लिए हम सभ्यता के विकास मे व्यापार के योग का अध्ययन करेगे। व्यापार, समाज की अपेक्षा रखता है। अकेला मनुष्य व्यापार नही कर सकता है।

अकेला मनुष्य तो कल्पित रॉबिन्सन क्रूसो की भाँति ही स्वतःपूर्ण हो सकता है। वह अपनी सभी आवश्यकताओ की पूर्ति करेगा। सामाजिकता के साथ ही व्यापार की भावना लगी रहती है। व्यापार के मूल में, चाहे

वह प्रारम्भिक काल में वस्तु-विनिमय में ही सीमित रहा हो, विशेषीकरण और पारस्परिक सहयोग की भावनाएं, जो सभ्यता की आधारशिलाएं है, निहित रहती हैं।

विकसित संस्था उसी को कहते है जिसमें अधिक से अधिक विशेषीकरण के साथ अधिक से अधिक एकीकरण हो। हम केचुए को कम विकसित और मनुष्य को अधिक से अधिक विकसित इसीलिए कहते है कि केचुए की इन्द्रियों का विशेषीकरण कम हुआ है और मनुष्य की इन्द्रियों का पूर्ण विशेषीकरण हो गया है और साथ ही उनमे पारस्परिक सहयोग और सहकारिता अधिक से अधिक बढ़ी हुई है। समाज भी व्यक्ति का बृहत् संस्करण है। जैसे-जैसे समाज मे सभ्यता का विकास होता गया, उद्योग-धन्धों का विशेषीकरण होता गया। कुम्हार घड़े बनाएगा तो जुलाहा कपड़ा; और किसान खेती करेगा तो गाय पालने वाला दूध-घी तैयार करेगा और लुहार छुरी, चाकू, तलवार और हल का फाल बनाएगा। प्रारम्भिक अवस्था मे तो प्रत्येक मनुष्य अपनी सब आवश्यकताओं की पूर्ति करता रहता था। उसकी आवश्यकताएँ भी कम थी और उनकी पूर्ति सम्भव भी हो जाती थी। सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य की आवश्यकताएँ भी बढीं और आवश्यकताओं के बढने के साथ वस्तुओं का वैविध्य और उनके निर्माण में कौशल और सफाई की माँग हुई और विशिष्ट रूप से उत्पादित वस्तुओं की खपत के लिए वस्तु-विनिमय की आवश्यकता प्रतीत हुई। परन्तु विनिमय में कठिनाइयाँ होने लगी। हर मनुष्य को हर समय हर वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। घडे वाले को कपडे की आवश्यकता है किन्तु कपड़े वाले को घड़े की नहीं। ऐसी कठिनाइयो को दूर करने के लिए अन्न के माध्यम से व्यापार होने लगा क्योकि उदर-पूर्ति सभी की प्रारम्भिक आवश्यकता है। गाँवो मे आज भी अन्न-विनिमय माध्यम है।

अन्न को भी हर जगह लादकर नही ले जाया जा सकता, इसलिए धातु-मुद्राओं का आविर्भाव हुआ। धातु-मुद्राओं के आगमन से व्यापार की गति बढ़ी। वह केवल एक गाँव मे ही सीमित न रहा, बल्कि देश की सीमाओ को भी पार कर गया। विदेशों से हमारा सम्पर्क बढा, विचारों का भी आदान-प्रदान हुआ। सभ्यता के विकास को एक नयी प्रेरणा मिली। व्यापार द्वारा व्यक्तियों और प्रान्तों में ही सहयोग नहीं बढ़ा वरन् अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी बढ़े क्योंकि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक देश में उत्पन्न नही होती। व्यापार से ही पारस्परिक निर्माण की भावना बढ़ी किन्तु मनुष्य और राष्ट्रो

के संकुचित विचारों के कारण व्यापार आक्रमणों का भी कारण बना। आक्रमणों द्वारा प्रभुत्व स्थापित कर दूसरे देशो की उपज को अपने लिए सुरक्षित कर लेने की बात लोगो ने सोची। यह तो व्यापार का दुरुपयोग हुआ। व्यापार के सदुपयोग मे पारस्परिक सहयोग की भावना बढनी चाहिए। हिन्दुस्तान और पाकिस्तान मे इतना मतभेद और वैमनस्य होते हुए भी जो पारस्परिक सहयोग चल रहा है, वह व्यापार के ही कारण। दोनो देश एक ही थे और इसके कारण एक-दूसरे के पूरक है।

पारस्परिक सहयोग और लडाई से बचने की वृत्ति सभ्यता का प्रथम लक्षण है। व्यापार इस सहयोग के बढाने मे जितना योग देता है उतना और कोई नही। युद्ध को रोकने में सबसे बडा नही तो एक बडा कारण व्यापार मे हानि पहुँचने की सभावना का अस्तित्व है। यदि हम किसी देश पर किसी वस्तु के लिए निर्भर रहते है तो उस देश से सहज मे लड़ाई मोल न लेंगे।

व्यापार ने यातायात के साधनो को सुलभ बनाने मे योग दिया है। यद्यपि यातायात के साधनो मे उन्नति युद्धो के कारण भी हुई है तथापि युद्ध स्थायी सस्था नही है। व्यापार से रेलो, जहाजो आदि को प्रोत्साहन मिलता है और इनसे व्यापार को। व्यापार के आधार पर हमारे डाक-तार विभाग भी फले-फूले है। व्यापार ही देश की सभ्यता का मापदण्ड है। दूसरे देशो से जो हमारी आवश्यकताओ की पूर्ति होती है, वह व्यापार के बल-भरोसे होती है। व्यापार मे आयात और निर्यात दोनो ही सम्मिलित है। आयात-निर्यात के सन्तुलन मे ही अथवा अपने पक्ष मे कुछ विशेष धन बाकी रखने मे ही देश की आर्थिक दृढता की सम्भावना रहती है। निर्यातो के अभाव मे हमको अन्न भी मिलना कठिन हो जायगा। किन्तु हमको अपनी मौलिक आवश्यकताओं के लिए दूसरे देशो पर निर्भरता जितनी कम हो, उतना ही अच्छा है। व्यापार के साथ उत्पादन की भी वृद्धि आवश्यक है। हम अब भी स्वदेशी का व्रत भूले हुए है। विदेशी राज्य न होते हुए भी हमारे बाजारों पर विदेशो का अधिकार है क्योकि हमने अपनी आवश्यकताओ को अपनी देश की उपज से पूरा करना नही सीखा है।

व्यापार ने हमारे सुख-साधनो को बढाकर हमारे जीवन का स्तर ऊँचा किया है। हमारे विशाल भवन, गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ, स्वच्छ दुग्ध-फेनोज्ज्वल कटे-छटे वस्त्र, विद्युत् प्रकाश, रेडियो, तार, टेलीफोन, रेल और मोटरे सब हमारे व्यापार पर ही आश्रित है। व्यापार में दूसरे देशो पर

हमारी निर्भरता अभी बढ़ी हुई है। जब तक यह निर्भरता रहेगी तब तक हम सच्चे अर्थ मे स्वतन्त्र नही हो सकते हैं। हमे अपनी आवश्यकताओ को कम करके जीवन का स्तर नीचा गिराने की आवश्यकता नही है, वरन् हमको अपने देश का उत्पादन बढाकर अन्य देशों की भाँति आत्म-निर्भरता प्राप्त कर लेना वाञ्छनीय है। विलास की वस्तुओं के लिए धन बाहर भेजना लक्ष्मीजी का अपमान है। हम सभ्य तभी कहे जा सकते है, जब हम अपनी सभ्यता के प्रसाधनो के लिए दूसरे देशो पर निर्भर न रहें।

हमारी लक्ष्मी-पूजा तभी सफल होगी, जब हम व्यापाररूपी लक्ष्मी-सदन को खूब सम्पन्न बनावे।

स्वदेशी व्यापार को सम्पन्न बनाने के लिए उत्पादक और उपभोक्ता दोनो का पारस्परिक सहयोग वाञ्छनीय है। उत्पादक और व्यापारी उपभोक्ता की प्रवञ्चना न करें और उपभोक्ता देश मे निर्मित वस्तुओ का आदर करे। उनको गर्व के साथ देखें और उत्पादक उनको गर्व करने के योग्य बनावे। तभी हमारा व्यापार भी समृद्ध होगा और हमारे देश की शोभा-श्री बढ़ेगी।

हम अपने व्यापार को अपने ही देश मे सीमित न रखें वरन् अपने माल की श्रेष्ठता के कारण दूसरे देशों से भी उनका व्यापार बढावे। लक्ष्मीजी की प्राप्ति समुद्र-मथन से ही हुई थी। हमारे युवक ऐसी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने को कोशिश करे जिससे कि वे देश के व्यापार को समृद्ध बना सकें, तभी हमें स्वराज्य का सच्चा सुख प्राप्त हो सकेगा। हमारे व्यापारी ईमानदारी का स्तर ऊँचा उठावे। तभी वे देश को समृद्ध बना सकेंगे और विदेशों से व्यापार मे सफलता प्राप्त कर सकेंगे।

हमारा व्यापार हमारी नैतिकता की कसौटी बने, इसी दशा में हमारा व्यापार भौतिक और आध्यात्मिक दोनो प्रकार की सभ्यताओ का उन्नायक होगा।

[*'सैनिक'*; दीपावली विशेषाक १९५२]

कुशल व्यापारी के गुण

व्यापारी की शिक्षा दो तरह से हो सकती है। एक आचरण-सम्बन्धी, जिसे वह जन्म से ही पा लेता है, दूसरी व्यावहारिक शिक्षा जिसे वह पुस्तकों से, स्कूल या कॉलेज मे पा सकता है। आचरण मनुष्य को दिया हुआ प्रकृति का वरदान है जिसे वह बहुधा नमक-मिर्च मिलाकर अधिक बढा नही सकता किन्तु व्यावहारिक ज्ञान को वह परिश्रम करके बढा सकता है। पहले प्रकार की शिक्षा को हम मनुष्य के स्वाभाविक गुण कह सकते है और दूसरी तरह की शिक्षा को उसकी व्यावहारिक कुशलता।

व्यापारी को अच्छा आचरण रखना बहुत आवश्यक है। उसे सत्य से प्रेम करना चाहिए। अकेला यही गुण उसे अनेक सांसारिक झझटो से बचाने में सफल हो सकेगा और उसे एक चतुर व्यापारी बना सकेगा क्योकि जो आदमी सच्चा होता है वह अपने काम-काज और व्यवहार मे सादगी से काम लेता है। फल यह होता है कि उससे गलती कम होती है और नुकसान उठाने के अवसर बहुत कम आते है। जो लोग सत्य से प्रेम करते है उनको अपने रोजाना के काम-काज और व्यवहार मे उचित-अनुचित और अच्छे-बुरे का ध्यान अवश्य बना रहता है। ये विचार उनको ठीक रास्ते पर चलने और गलत रास्ते से बचाने मे सहायक होते है। बुरे रास्ते पर पैर रखते ही उनकी आत्मा उन्हे धिक्कारती है और उस काम को करने से रोकती है। ठीक रास्ते पर चलते समय उनकी वही आत्मा उन्हे प्रोत्साहन देती है।

कुशल व्यापारी को उदार और नम्र होना भी आवश्यक है। इससे उसका मन पवित्र रहता और समझ पैनी होती है। जैसे ज्ञान से शक्ति बढती है वैसे ही उदारता से ज्ञान बढता है। जिनका हृदय उदार नही और जो नम्र नही उनका ज्ञान एकांगी और अधूरा होता है। पूरा ज्ञान पाने के लिए दोनो पक्षों की बात को तोलना जरूरी होता है और जो उदार एव नम्र तथा सहनशील नही होता वह ऐसा कर ही नही सकता है। हमे जितना अधिकार अपनी बात कहने का है उतना ही अधिकार दूसरे को भी अपनी बात कहने का है। यदि हम खुलकर बोलते है तो दूसरे को भी बोलने का पूरा अवसर देना चाहिए। एक उदार आदमी जिस काम को करेगा उसे सेवा-भाव से करेगा, मुनाफे के विचार से नही, क्योकि वह यह जानता है कि समाज की सेवा करने के विचार से जो सामान बिक्री के लिए तैयार

किया जायगा वह बहुत ही टिकाऊ और अच्छा बनाया जायगा जिसकी कि मांग बढती ही चली जायगी। अतः उसे मुनाफा तो जरूर होगा ही। ज्यों-ज्यों उसका सामान लोगो के पास पहुँचेगा, त्यों-त्यों उसके सामान का प्रचार होगा, माँग बढेगी और उसका मुनाफा बढेगा। उसे नुकसान का दिन कभी नही देखना पड़ेगा। नम्रता में मनुष्य को वश में करने की बड़ी ताकत है। नम्र व्यापारी ग्राहक का हृदय जीतकर उसे सदैव के लिए अपना बना लेता है। मीठा बोलने मे हमारा कुछ खर्च नही होता किन्तु उसके द्वारा हम पा सब-कुछ लेते हे। उससे लाभ ही होता है, हानि नही।

हर एक व्यापारी को अपने कुछ सिद्धान्त बना लेने चाहिए और उन्ही पर सदैव चलना चाहिए। सम्भव है शुरू में उसे कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़े और वह अपने बनाये हुए सिद्धान्तो का ठीक-ठीक पालन न कर सके, किन्तु इससे उसे डरना न चाहिए और अपने मार्ग से विचलित न होना चाहिए, क्योंकि यदि वह एक सत्य की ही रट लगाये हुए है तो यही अकेला गुण उसे सफलतापूर्वक सारी कठिनाइयो से पार उतार ले जायगा। गलत रास्ते पर चलते ही ठोकर लगेगी और वह सही रास्ते पर आ जायगा। जो मनुष्य किसी नियम के अनुसार नही चलता उसका जीवन बेपतवार की नाव की भाँति भंवर मे पडकर शीघ्र समाप्त हो जाता है।

व्यापारी को आशावादी और शान्त स्वभाव का होना चाहिए। उसे न निराश होने की आवश्यकता है और न क्रोध करने की। यदि आज थोडा नुकसान हुआ है तो कल फायदा भी जरूर होगा, यह सोचकर उसे घबराना नही चाहिए। सेवा की पतवार के सहारे अपने व्यापार अथवा व्यवसाय की नाव को उत्साह सहित भंवर से निकाल ले जाने मे बुद्धिमानी है। हारकर हाथ-पैर छोड देने से यश नही मिलता। किसी ने ठीक कहा है—

'शान्ति से ही काम लो छोड़ो न निज मर्याद को,
सर्द लोहा काट देता है गरम फौलाद को।'

स्वतंत्र विचार रखना भी व्यापारी का एक उत्तम गुण है। अनेक अवसरो पर उसे तुरन्त निश्चय करके काम करना पड़ता है, किसी से सलाह-मशवरा लेने का मोका नही मिलता। देरी करने मे काम बिगड़ता है और मौका हाथ से निकल जाने का डर रहता है। अतः एक व्यापारी को हाजिर-जवाब होना चाहिए, उसका दिमाग तेज और साफ होना आवश्यक है। घंटो तक सन्देह मे पड़े रहने से काम नही चलता। अच्छे सौदे से ऐसे ही लोग फायदा उठा सकते हैं जो 'तुरत दान महा कल्याण' स्वभाव वाले

होते है। ऐसा स्वभाव बहुधा उन लोगों का हो जाता है जिन्हे बचपन में ही जिम्मेवारी उठानी पड जाती है अथवा जो स्वतत्र वातावरण मे पलते है।

हिम्मत से बहुत से काम निकल जाते है और शरीर अथवा दिमाग की कमजोरी छिप जाती है। चाहे कितना ही कठिन काम करना पड़ जाय, चाहे कितनी ही आपत्तियो का सामना हो या भारी नुकसान उठाना पड गया हो, तो भी एक चतुर व्यापारी को साहस न छोडना चाहिए। उसका हृदय वज्र का और हड्डियाँ लोहे की होनी चाहिए। आगे बढना ही उसका काम है। पीछे पैर रखना कायरता है।

अब हम व्यापारी की उस शिक्षा की ओर ध्यान देगे जिसे कि किताबे पढने से या अनुभव से बढाया जा सकता है। ससार का साधारण ज्ञान जितना ही अधिक हमे होगा उतना ही अच्छा है। वह हमे चतुराई देगा और देगा तरह तरह की परिस्थितियो से बचने की शक्ति। किसी काम या उसके कारण पर गम्भीरता से विचार करने की क्षमता रेखागणित पढने से शीघ्र प्राप्त हो सकती है। इससे आँख और हाथ सध जाते है, दृष्टि पनी और वुद्धि तेज हो जाती है। यदि हम रेखागणित जानते है तो उन्नति के रास्ते पर इसी प्रकार बढते चले जायँगे जैसे बिन्दु से रेखा का जन्म होता है, रेखा से धरातल का और धरातल से ससार की सारी लम्वी से लम्बी, चौडी से चौड़ी और ऊँची से ऊँची ठोस चीजो का।

उदार विचार रखने के लिए हमें मनोविज्ञान और धर्मशास्त्रों को पढना चाहिए। इससे हम मनुष्य को भली भाँति समझ सकेंगे, उसके स्वभाव को पहिचानने की हममे क्षमता बढेगी और अनेक चालाक और धोखेबाज लोगो के चगुल से हम बच जायँगे। हमारी विचार-शक्ति बढेगी और हम किसी भी वात का तुरन्त निश्चय करना सीख जायँगे। स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ तथा महात्मा गाधी जैसे विद्वानो की लिखी हुई पुस्तके हमे वडी सहायक होगी। इस प्रकार के व्यापक ज्ञान के अतिरिक्त हमको देश-विदेश की राजनीति की जानकारी होना और उसमे दिलचस्पी रखना भी अत्यन्त वाञ्छनीय है क्योकि राजनीति का देश के व्यापार पर गहरा असर पडता है, उससे सरकार की आयात-निर्यात-नीति का भी पता चलता रहता है और करो की घटती-बढती के कारण भावो के उतार-चढाव की भी कुछ पेशगी जानकारी प्राप्त हो जाती है। जिन वस्तुओ का हमारा व्यापार है उनके उत्पादन के सम्बन्ध मे भी जानकारी प्राप्त करना हमारा

परम कर्तव्य है। यह जानकारी कुछ तो विविध यात्राओं द्वारा प्राप्त हो सकती है और कुछ पुस्तकों के अध्ययन से।

जहाँ तक पढने से सम्बन्ध है, हमे यह याद रखना चाहिए कि अधिक पढने से बहुधा लाभ नही होता। लाभ होता है अच्छे ढग से पढने से। अतः विधिपूर्वक अच्छे ढग से पढना चाहिए। जो हम पढे उसको पूरी तरह अपना लेने पर हम काम पडने पर उपयोग मे ला सकते हे और दूसरो को भी समझा सकते हे। व्यापार के विद्यार्थी को विद्वान् नही होना है, उसे अपने काम मे चतुर होना है, उसे पूर्ण मनुष्य नही बनना बल्कि उसे तुरन्त काम करने और मौके से लाभ उठाने वाला बनना है। इन गुणो के अतिरिक्त यदि उसको उदार शिक्षा का लाभ मिल सके तो सोने मे सुगन्ध की बात आ जायगी। जो वह जानता है उसे विधिपूर्वक सजाकर दूसरो के सामने रखने की उसमे योग्यता होनी चाहिए। इस योग्यता के पाने के लिए उसे अपने वक्तव्य को सक्षेप करके लिखने, उसे अच्छे ढग से सजाने, सँभालने और छाँटने तथा विरोधी बातो को सुलझाने का अभ्यास करना चाहिए। उसकी लेखनी को चलती और प्रभाव डालने वाली होना आवश्यक है। शब्दो को दुहराने से भापा मे कोई दोप नही आता अतः सदैव प्रचलित शब्दो का प्रयोग करना ही ठीक है। उसे साहित्यिक भापा नही लिखना बल्कि अपनी बात ज्यादा से ज्यादा जनता को समझानी है। अतः भापा बोलचाल की, महावरेदार, चलती भाषा हो। अपनी बात थोड़े से थोडे शब्दो मे ही कहनी चाहिए क्योकि लम्बी बातें सुनने या पढने के लिए आजकल जनता के पास समय कम रहता हे। विरोधियो के तर्क सुनने के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए। और उनका उचित उत्तर देना चाहिए। विरोधी लोगो की आलोचना से हमे लाभ उठाना सीखना चाहिए न कि उनसे घृणा करना अथवा उन्हे गाली देना। व्यापारी को व्यापारी होने के अतिरिक्त सद् नागरिक होना आवश्यक है क्योकि कर्तव्यनिष्ठ मनुष्य की प्रतिष्ठा व्यापार मे भी बढ जाती है। उसको अपने निजी लाभ के अतिरिक्त देश की समृद्धि और सम्पन्नता का भी ध्यान रखना चाहिए। 'आत्महिताय' के साथ उसे 'देशहिताय' न भूलना चाहिए।

[*'व्यापार कानून', १९४७*]

ग्राहक पटाने की कला

महत्त्व—ग्राहक व्यापारी का अन्नदाता और परमेश्वर है। उसके बिना दूकानदार की अयोध्या सूनी रहती है। प्राचीनकाल का दूकानदार अपने भगवान् से छप्पन करोड की चौथाई की भिक्षा के साथ 'आँख के अन्धे गाँठ के पूरे' ग्राहक की भी माँग करता था क्योकि उसके विना उत्पादक का उत्पादन और सग्रह करने वाले का सग्रह निष्फल और व्यर्थ रहता है। रेल के वैगनो के दौडते रहने मे ग्राहक की ही सचालन-शक्ति काम करती है। उसके अभाव मे बनिये का बनिज बँधे हुए पानी की भाँति सडने लगता है। वही व्यापार की सुरसरिता को गति-वेग देता है। जिस प्रकार बिना दर्शको के नाटक फीका रहता है और जिस प्रकार विना श्रोताओ के व्याख्यान-वाचस्पति की भी कला नीरस हो जाती है, उसी प्रकार विना ग्राहक के दुकान बीहड वन से भी भयकर रूप धारण कर लेती है। ग्राहक आता भाग्य से है किन्तु वह यदि निष्फल चला जाता है तो दूकानदार की मूर्खता और व्यावहारिक अकौशल से। ग्राहक गरजमद अवश्य होता है किन्तु आजकल होड और प्रतिद्वन्द्विता के समय मे उसकी गरज और जगह भी पूरी हो सकती है। वह माल की ही चाह नही रखता वरन् सद्व्यवहार भी चाहता है। जहाँ भिखारी भी मान चाहता है—'अमी पियावत मान बिनु रहिमन हमें न सुहाय'—फिर वह तो पैसा खर्च करता है। वह क्यो न मान चाहे ?

यद्यपि जिस प्रकार मछली का बच्चा जन्म से ही तैरना सीख जाता है, उसी प्रकार दूकानदार का बेटा भी दूकान पर बैठते ही ग्राहक पटाना सीख जाता है, फिर भी वहुत कुछ वच रहता है, जिसे वह धीरे-धीरे अनुभव से सीख लेता है। उसी का यहाँ पर कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

सफाई-सजावट—कुछ ग्राहक अवश्य इस मनोवृत्ति के होते है कि 'परो अपावन ठौर पै कचन तजै न कोइ' किन्तु अधिकाश लोगो के लिए दूकान की सफाई और सजावट अपना विशेष महत्त्व रखती है। यद्यपि 'ऊँची दूकान और फीका पकवान' का कटु अनुभव वहुत से लोगो को होता है तथापि दिन-कर-प्रकाश से प्रतिस्पर्द्धा करने वाले विद्युत्-आलोक मे व्यवस्था के साथ सजी-सजाई चमकती-दमकती स्वच्छता की आभा विकीर्ण करती हुई वस्तुएँ मन और पैरो को वरवस अपनी ओर खीच लेती हे। हृदय-मदिर के द्वार खोलने के लिए बाह्य सौन्दर्य प्रथम उपकरण है। 'यत्र आकृतिस्तत्र गुणाः

वसन्ति'—जहाँ सुन्दर आकृति होती है वहाँ गुण भी होते हैं। यद्यपि यह बात सर्वथा सत्य नही है तथापि वाह्य स्वच्छता अपना प्रभाव डाले बिना नही रहती है। किन्तु सफाई और सजावट को लिफाफियापन का पर्याय न वना देना चाहिए। दूकान की भव्यता के अनुकूल सामान की सुसम्पन्नता भी वाञ्छनीय है। आजकल विशेषीकरण के जमाने मे सर्वतोमुखी सम्पन्नता तो कठिन है किन्तु अपने विशेष क्षेत्र की यथासम्भव पूर्णता वाञ्छनीय है। आवश्यकताओ का अध्ययन, नये-नये फैशन और वस्तुओ के प्रचलन की जानकारी, और लोगो की रुचि की पहिचान, एक सफल दूकानदार की मानसिक सुसज्जा के आवश्यक उपकरण है। दूकान मे वस्तु-विन्यास की ऐसी व्यवस्था रहे कि नये ढङ्ग की वस्तुएं रास्ता चलते ग्राहक का भी ध्यान आकर्षित करले। इसके लिए छोटे-छोटे साइनवोर्ड भी वड़े सहायक होते है। 'अमुक वस्तु यहां मिलती है' की सूचना को पढकर खोजी ग्राहक को उतनी ही प्रसन्नता होती है, जितनी वैज्ञानिक अन्वेषक को अपने खोज की वस्तु मिल जाने पर होती है।

स्वागत-सत्कार—इस सम्वन्ध मे पानी-पत्ता, पान-तम्वाकू तो अपना महत्व रखते ही है किन्तु उनसे अधिक दूकानदार के भव्य और आकर्षक व्यक्तित्व और दूकान की सफाई और उठने-वैठने की सुविधा का भी अपना विशेष स्थान है। पान-तम्वाकू वही स्वीकार किया जाता है जहाँ मनुष्य की वैठने को तवियत चाहे। वैठने के लिए अच्छा स्थान, पखे की हवा और शीतल जल और दूकानदार का प्रसन्न मुख, व्यवहार मे आत्मीयता और मीठी वाणी वाजार के भ्रमण से थके-थकाये ग्राहक की टाँगों को विश्राम, चित्त को शान्ति और कुछ काल तक वैठे रहने की निश्चिन्तता प्रदान करती है। गाँठ का पूरा ग्राहक (माल अच्छा है तो आँख के अन्धे ग्राहक की जरूरत नहीं) जितनी देर वैठता है उतनी देर कुछ न कुछ प्राप्ति की सम्भावना रहती है। उसकी आवश्यकता पूरी होने के पश्चात् न जाने कौन सी वात उसकी निगाह चढ जाय ? पान-तम्वाकू का एक लाभ यह भी होता है कि उसके लिए भी कुछ काल तक ग्राहक जम जाता है और उसे दूकान मे रक्खी हुई वस्तुओ पर निगाह दौडाने का अवसर मिल जाता है।

सद्व्यवहार—ग्राहक की सवसे पहली माँग यह होती है कि उसकी माग पर यथोचित ध्यान दिया जाय, विशेषकर जव वह अपने इष्ट-मित्रों या स्त्री-वच्चों के साथ हो, वह उपेक्षित न समझा जाय। आजकल काग्रेस राज्य में गवर्नमेण्ट की दी हुई रायसाहवों को लोग चाहे ठुकरा दें किन्तु दूकानदार

की दी हुई रायसाहबी से निस्पृह मनुष्य की भी बॉछे खिल जाती है। ग्राहक विशेषकर कपडा, जेवर, सौदागरी के सामान का हो, चाहे क्रीम, पाउडर या खेल-खिलौने का, यह नही चाहता कि वह टुटपुँजिया समझा जाय। देवताओ की भाँति सभी ग्राहक बडे होते है—नाउओ की बरात मे सब ठाकुर ही ठाकुर होते है। माल दिखलाने मे किसी प्रकार की आनाकानी या लापरवाही से ग्राहक ऐसे ही बिचक जाता है जैसे काले छाते से बैल। ग्राहक की आवश्यकता को ध्यानपूर्वक समझ लेना चाहिए। भला ग्राहक दूकानदार को बिना प्रयोजन तग नही करता। उसके मन मे एक अटक होती है। शायद वह अपने घर को सजाना चाहता है। उसने अपने किसी मित्र को खास प्रकार का कपडा पहने देखा है। वह अपनी स्त्री को किसी विशेष रग का या डिजाइन का कपडा पहनाना चाहता है। उससे किसी विशेष वस्तु की फर्माइश हुई है और वह गलत चीज ले जाकर अपनी स्त्री की निगाह मे बेवकूफ नही बनना चाहता है। इसीलिए वह सौदे की पसद मे उलट-फेर करता है। ठीक वस्तु मिल जाने से उसके हृदय की कली ऐसे ही खिल जाती है जैसे आत्म-ज्ञान से किसी वेदान्ती की। दूकानदार को वस्तुओ और मनुष्यो का इतना अनुभव होना चाहिए कि वह ग्राहक के मन की बात भाँप ले।

यदि ग्राहक का झुकाव देखे तो नम्रतापूर्वक सुझाव भी दे दे। ग्राहक पर अपनी राय का बोझ लादने का उसको अधिकार नहीं। नये फैशन, डिजाइनो और नाप-तौल का इतना ज्ञान आवश्यक है कि वह ग्राहक को अपने ज्ञान के भार से आक्रान्त न करते हुए भी उस पर अपनी विशेषता की धाक जमाकर उसकी रुचि और आवश्यकता के अनुकूल कम से कम दामो मे अच्छे से अच्छा बाना बनवा दे।

ग्राहक की प्रशसा—ग्राहक पटाने मे असावधानी, जल्दबाजी या मिजाज का तुनकपन घातक हो जाता है। कभी-कभी यह आवश्यक हो जाता है कि दूकानदार ऐसा दिखावे कि वह ग्राहक से अपने विषय की जानकारी प्राप्त कर रहा है। फिर ग्राहक खुलने लगता है। अगर उसकी पसन्द और निगाह अर्थात् माल की पहचान की थोड़ी-बहुत तारीफ कर दी जाय तो ग्राहक मूक से वाचाल और कजूस से शाहखर्च वन जाता है। प्रशसा की ठण्डी आग वज्र को भी पिघला देती है। जहाँ ऐसा कुछ कहा नही कि—'ग्राहक तो ईश्वर की दया से मेरी दुकान पर सैकडो आते ही रहते है किन्तु जैसी परख और सुरुचि आपकी है वैसी सुरुचि मैने दो ही चार आदमियो मे

देखो'—वही ग्राहक का मनमुकुल खिल उठता है और वह कुछ अच्छी चीज ख़रीद कर ही अपनी सुरुचि को प्रमाणित करता है।

वस्तु-प्रदर्शन-कौशल—दूकानदार को अपनी दूकान के सामान का पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए, कौनसी वस्तु अलमारी के किस कौने मे, कौन से रग के वेठन मे वँधी हुई थी। कभी-कभी वस्तु का महत्त्व और ग्राहक के गौरव को बढाने के लिए यह भी कहना पडता है कि अमुक वस्तु फलाने अफसर या नेता के यहाँ गई थी और उसने सोधी काश्मीर या लुधियाना या वम्बई से मंगवाई थी। कभी-कभी वडे ग्राहक को प्रसन्न करने के अर्थ यह भी आवश्यक हो जाता है कि वह स्वय उठकर दूकान के किसी भीतरे कौने मे रखे हुए सन्दूक को कुछ कठिनाई से खोलने का अभिनय कर वस्तु को वाहर लाकर कहे कि यह मैंने रखी तो अमुक व्यक्ति के लिए थी किन्तु आपकी खोज पूरी करने के लिए आपको ही दे दूँगा, उनको और मँगा दूँगा। दूकानदार को अपनी वस्तु के दिखाने में इतनी ही प्रसन्नता और गर्व की भावना होनी चाहिए जितनी कि पिता को अपनी सुयोग्य सन्तान के परिचय कराने मे होती है। कुशल दूकानदार अपने ग्राहक पर यह प्रभाव नहीं पडने देता कि उसकी दूकान मे किसी चीज की कमी है। इसके विपरीत वह ग्राहक पर ऐसा प्रभाव डालेगा कि उसके यहाँ एक से एक वढिया रत्न है, पैसा चाहिए।

वार्तालाप—दूकानदार का कौशल उसके वार्तालाप से प्रमाणित होता है। न तो वह इतनी चिकनी-चुपडी वाते करे कि "मीठा ठग" समझा जाय और न इतनी लापरवाही से वात करे कि ग्राहक के मन पर उद्धत, अशिष्ट और मूर्ख होने की छाप डाल दे। वार्तालाप मे थोडे निजीपन की आवश्यकता रहती है। परिचित ग्राहकों से वालवचो की कुशल-क्षेम, उनके पढने-लिखने का हाल अथवा वह किसी विशेष अधिवेशन मे जा रहा है या गर्मियाँ विताने कौनसे पहाड पर जायगा, ऐसी कुछ वे-मतलव की वाते भी उसके आत्म-भाव को वढाकर हृदय मे स्थान कर लेती है। इसके कारण वह अधिक भाव-ताव करने मे भी सकोच करता है। किन्तु साथ ही साथ इस वात के लिए भी पूरी तौर से सतर्क होने की आवश्यकता है कि ग्राहक यह न समझे कि दूकानदार वेईमान है या जान-पहिचान मे दवाना चाहता है या मीठी वातें करके ग्राहक के तर्क और भाव-ताव के अस्त्र-शस्त्र छीन लेने का इच्छुक है। जहाँ तक हो इतने कम दाम कहे कि भाव-ताव की गुंजाइश न रहे। इसका ग्राहक पर असर पड़ता है। भाव-ताव हो तो वडे सौदे का। छोटी चीजों मे तो न्यूनातिन्यून एक दाम का ही सिद्धान्त चरितार्थ होना चाहिए।

ईमानदारी—दूकानदारी का ग्राहक पर अच्छा असर पडता है। कम से कम जान-पहचान के ग्राहकों के लिए अपनी वस्तु का दोष भी स्पष्ट रूप से बता देना उसका उत्तरदायित्व हो जाता है। यद्यपि 'बाजार मे आँखे खोलकर आओ' का सिद्धात बहुत से स्थानो मे मान्य होता है तथापि प्रतिष्ठित दूकानदारो के लिए विशेषकर परिचित ग्राहको के साथ यह निजी उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह ग्राहक की भेदक दृष्टि मे न आने वाले दोषो को वतलाए। भला दूकानदार आँखो के अधे ग्राहक को दृष्टि प्रदान कर देता है। वस्तु को वायदे और नमूने के अनुसार तथा निश्चित की हुई दर पर ही ग्राहक के घर पर पहुँचा देना ग्राहक के हृदय मे स्थायी प्रभाव डालता है। दूकानदार को हमेशा यह ध्यान रखना चाहिए कि काठ की हॉडी एक वार ही चढती है। दूकानदार की साख लाख से भी अधिक मूल्यवान् होती है।

हिसाब-किताब की सफाई—ईमानदारी के साथ हिसाब-किताब की सफाई भी एक आवश्यक साधन है। 'कैश-मीमो' भी बिना मॉगे देना, हिसाव समझाने मे आलस्य न करना, उधारखाते मे किसी प्रकार की गडबडी न होना, ग्राहक को दूकानदार का अनुरक्त बनाये रखता है। उधार के लिए ग्राहक को प्रोत्साहन तो न देना चाहिए किन्तु इस सम्वन्ध मे कम से कम प्रतिष्ठित ग्राहको को थोडी-बहुत सुविधा अवश्य देनी पडती है। उधार मिल जाने का प्रलोभन भी अपना चुम्वकीय आकर्षण रखता है। उसका दूकानदार की ओर से कोई दुरुपयोग न होना चाहिये। इसके अतिरिक्त तकाजे मे बडी सावधानी रखनी चाहिए। न तो इतनी ढील ही देनी चाहिए कि ग्राहक उसे भूल जाय (दूकानदार चाहे शिष्टाचार मे कहता यही रहे कि क्या जल्दी है, रुपये दूध पी रहे है, किन्तु दूध पिलाकर कर्जे को मोटा-ताजा न बना देना चाहिए) और न इतनी असावधानी, अशिष्टता और आतुरता दिखानी चाहिए कि ग्राहक दूकानदार को टुटपुँजिया, कम समाई वाला या अशिष्ट समझने लगे और उसका मन उसकी ओर से हट जाय।

शिष्टता और उपहार-प्रदान—ग्राहक को आकर्षित कर उसकी गाँठ से रुपये को निकाल लेने मे ही विक्रेता के कर्तव्य की इतिश्री नही हो जाती है वरन् दूकानदार का यह प्रयत्न होना चाहिए कि ग्राहक के मन पर उसका सुप्रभाव घर तक बना रहे और उसके बाल-वच्चे भी प्रभावित हों जायँ। उसके लिए खरीदी हुई वस्तुओ का सुन्दर पैकिंग वाञ्छनीय है। दूकानदार का अपने ग्राहक को हर प्रकार की सुविधा देना आवश्यक है। दूकानदार अपने को ग्राहक के घर भी उसका 'नयन-पथ-गामी' बनाये रखना चाहता

है। इसलिए प्रायः विदा होते समय छोटी-छोटी उपयोग की वस्तुएँ, जैसे कैलैंडर, डायरी, ब्लौटिंग पेपर, ऐशट्रे, फुटा, शूहोर्न, कोट-पेन्ट टाँगने के लकड़ी के हेंगर आदि वस्तुएँ ग्राहक को प्रदान कर देता है। उसके लिए ताँगा बुला देना, उसका सामान ताँगे पर रखवा देना या बाजार से उसकी खोज की अन्य वस्तुएँ मँगवा देना—ये छोटी-छोटी शिष्टता की बातें ग्राहक के मन की ऊब को दूर कर देती हे क्योंकि कुछ लोगो के लिए खरीददारी करना भी एक 'बड़े परिश्रम का कार्य हो जाता है। ग्राहक के इस परिश्रम के अनुभव को न्यूनातिन्यून कर देने मे ही विक्रेता की सफलता है।

[*'व्यापार कानून'*, १९४७]

एजेन्ट कैसा हो

राजा लोग अपने दूतो और मन्त्रियों की आँख से देखा करते है। उसी प्रकार दूकानदार लोग भी अपने एजेन्टो के हाथ-पैरो से काम किया करते है। वे उनके पूरे प्रतिनिधि होते है। उनका काम मालिक का ही काम होता है और उनकी जिम्मेदारी मालिक की जिम्मेदारी से कम नही होती है।

प्रायः वे लोग जो स्वय अपना रोजगार नही कर सकते है दूसरों के एजेन्ट बन जाते है। दूकानदार भी ईश्वर की भाँति सर्वज्ञ और सर्वव्यापी नही होता है। वह यदि भिन्न-भिन्न स्थानों मे अपना रोजगार फैलाना चाहे तो उसे उन स्थानों में अपने प्रतिनिधि की आवश्यकता होगी। इस प्रकार एजेन्ट को पूंजीपति मालिक की आवश्यकता रहती है और मालिक को एजेन्ट की। दोनो एक दूसरे पर निर्भर रहते है। उनके सहयोग से ही फर्म की सफलता होती है।

यद्यपि बहुत से बेकार लोग एजेन्ट बनने की स्पर्धा किया करते है, किन्तु हर एक ऐरा-गैरा एजेन्ट बनने की योग्यता नही रखता। उसके लिए भी कुछ ईश्वरदत्त गुण चाहिए और साथ ही शिक्षा-दीक्षा और अनुभव भी। एजेन्ट के चुनाव मे मालिक को पर्याप्त सावधानी की आवश्यकता है।

ईमानदारी और ठौर-ठिकाने का होना तो एजेन्ट की पहली आवश्यकता है किन्तु उसमे और भी बाते वाञ्छनीय है। सबसे पहले उसकी शारीरिक रूपरेखा और वेश-भूषा ऐसी हो जो सहज मे दूसरो को प्रभावित कर सके। एजेन्ट की मुख-मुद्रा ऐसी होनी चाहिए कि उससे सावधानी, कुशलता, जानकारी, कार्यशीलता और प्रसन्नता की किरणे सी प्रस्फुटित होती दिखाई दे। वेश-भूषा सभ्य समाज मे प्रवेश प्राप्त करने के पासपोर्ट का काम देती है। वेष-भूषा न तो इतनी सजधज की होनी चाहिए कि उससे उसकी सुकुमारता और अकर्मण्यता का भान होने लगे और न ऐसी हो जिसमें कि लापरवाही की झलक हो। वेश-भूषा भी एक कला है। सादगी मे प्रभाव उत्पन्न करना विरले ही लोग जानते है। वेश-भूषा ऐसी होनी चाहिए कि उससे उसकी स्थिति का पता चले कि यह आदमी कुछ ठौर-ठिकाने और मातबरी का है। एजेन्ट के लिए दूसरो पर कम-से-कम ऐसा प्रभाव डालना आवश्यक है कि यह मनुष्य बात का पक्का है और ले-उड़ा या उचक्का नही है। एजेन्ट की अच्छी

वेष-भूषा यदि जरूरत से ज्यादह सजधज की नही है तव मालिक को यह न अनुमान कर लेना चाहिए कि यह आदमी ईमानदार नही रह सकेगा। वेश-भूषा एक कला है। जो इस कला को जानते है वे कम खर्च मे भी वाला-नशीन होने का प्रभाव डाल सकते है।

वेश-भूषा के अतिरिक्त वातचीत का ढग एजेन्ट की दूसरी बड़ी आवश्यकता है। वेश-भूषा भी तभी काम देती है जव उसके साथ वातचीत का ढग भी प्रभावशाली हो। रेशमी वस्त्र तथा सूट-वूट, कालर, नेकटाई और चमडे का वैंग तभी शोभा देते हैं जव एजेन्ट अपने विषय मे पटु हो और जानकारों की-सी वात करे। एजेन्ट चाहे वीमा कम्पनी का हो चाहे व्यापारिक फर्म का, उसे जिसके साथ व्यवहार करना है उसकी मनोवृत्ति का पता होना चाहिए। हर एक आदमी से सफलता प्राप्त करने की अलग-अलग कुञ्जियाँ होती है किन्तु साधारणतया उसको ऐसा प्रभाव उत्पन्न करने की आवश्यकता है कि कार्य अत्यन्त आवश्यक और लाभदायक है और उसके करने का यही शुभ मुहूर्त है। एजेन्ट को यह जतलाने की जरूरत होती है कि सौदा दोनो पक्ष के लिए लाभदायक है। आजकल दूकानदारी मे कोई मनुष्य दूसरों को लाभ पहुँचाने और परोपकार की भावना की सचाई मे विश्वास नही करता है। कुछ मूर्ख लोग अब भी यह समझ लेते है कि अमुक आदमी ने हमारे साथ वडी रिआयत की है। ऐसे लोगों के लिए रिआयतों को चित्रशाला सामने लाना ठीक होगा। एजेन्ट को अपने विषय की उच्च जानकारी की धाक जमा देना चाहिये जिससे कि ग्राहक उसकी वात को मानने को तैयार हो जाय।

वातचीत की भाँति ही लिखा-पढी का ढग जानना भी अत्यन्त वाञ्छनीय है। वातचीत में जो काम वेश-भूषा से होता है वह काम लिखा-पढी में पत्रो की छपाई-सफाई से होता है। अच्छे कागज पर शुद्ध छपे हुए पत्र ग्राहक के मन में अपना स्थान वना लेते हैं। पत्रों मे हर एक वात स्पष्ट, विना लगालेस के और सिलसिलेवार हो। पत्र ऐसा मालूम हो जैसे किसी सुरुचि वाले मनुष्य के कमरे मे सव चीजे अपने स्थान पर दिखाई देती हैं। इसके लिए एजेन्ट मे फुर्ती की आवश्यकता है। पत्रो का उत्तर यदि तत्काल न दिया जाय तो व्यापार में हानि होने की सम्भावना रहती है। जरा-सा आलस्य भारी दुष्परिणाम उत्पन्न कर सकता है।

हिसाव-किताव की सफाई मालिक और ग्राहक दोनों के लिए ही आवश्यक है। एजेन्ट का काम जितना ग्राहक को सन्तुष्ट रखना है उतना ही

मालिक को। हिसाब-किताब की सफाई ईमानदारी में सहायक होती है। जहाँ हिसाब-किताब की लापरवाही होती है वहाँ बेईमानी और फिजूलखर्ची को भी प्रलोभन मिल जाता है। हिसाब-किताब चाहे अँग्रेजी कायदे से हो और चाहे हिन्दुस्तानी कायदे से, किन्तु हो पूर्ण व्यवस्था के साथ। उसमें किसी प्रकार का पिछड़ापन न होना चाहिए। बेईमानी के न होते हुए भी हिसाब-किताब का अद्यतन (रोज का रोज) न होना बेईमानी का प्रमाण-पत्र दिला देता है।

इन सबके अलावा जो सबसे जरूरी चीज है वह है मालिक का हितचिन्तक होना। जितना मालिक ने काम सौपा हो उससे भी अधिक करने को वह तैयार रहे। जहाँ मालिक अपनी हिदायतो मे कुछ भूल भी कर गया हो वहाँ एजेन्ट का काम है कि जो समय पर उचित हो उसी को मालिक की आज्ञा समझे। मालिक अपने एजेन्ट को मिट्टी के माधव के रूप मे नही देखना चाहता है। एजेन्ट चैतन्य मनुष्य है। उसमे गाँठ की अकल और मौके पर स्वय अपना निर्णय करने की शक्ति होनी चाहिए। मालिक का भी यह धर्म है कि वह अपने एजेन्ट मे स्वय निर्णय करने की शक्ति को प्रोत्साहन दे। वह उसे लिखी हुई हिदायतो का दास न बनावे। दुनियाँ बड़ी पेचीदी है, लिखी हुई हिदायतों की खानापूरी मे बाँधी नही जा सकती। किस मौके पर क्या करना है यह एजेन्ट को स्वय ही निर्णय करना पड़ेगा।

स्वय निर्णय करने मे यदि दो-एक बार नुकसान भी हो जाय तो उससे मालिक को विचलित न होना चाहिए वरन् उसको पूरी स्थिति समझाकर स्वय निर्णय करने की दक्षता प्राप्त करानी चाहिए।

मालिक का दूसरा धर्म यह है कि अपने एजेन्ट को प्रसन्न रक्खे जिससे कि उसे स्वय अपना निजी व्यापार करने की प्रवृत्ति न हो और न वह दूसरी जगह जाना चाहे। खुश रखने के लिए उचित वेतन या लाभ मे हिस्सा देना तो आवश्यक है ही, एजेन्ट पर पूरा विश्वास रखना भी उतना ही जरूरी है। जब तक एजेन्ट की बेईमानी न प्रमाणित हो जाय, उसे बेईमान न समझना चाहिए और कम से कम उस पर यह न प्रकट होने देना चाहिए कि वह बेईमान समझा जा रहा है। जब आदमी यह समझता है कि वह बेईमान समझा जा रहा है तो उसकी प्रवृत्ति वास्तव मे बेईमान बनने की हो जाती है। जब कलक लग ही गया तो मौज से भी क्यो वचित रहे? जिस प्रकार एजेन्ट मे स्वामिभक्ति आवश्यक है उसी प्रकार मालिक मे एजेन्ट के साथ सद्व्यवहार और उसके प्रति विश्वास अत्यन्त वाञ्छनीय है।

['व्यापार कानून', १९४७]

विज्ञापन की कला

विज्ञापनबाजी चाहे अखबार और छापेखानो के प्रगतिशील युग की देन हो किन्तु विज्ञापन की प्रवृत्ति अर्थात् अपने और अपनी चीज को ज्वलन्त प्रकाश मे लाने की चाह मानव-समाज मे चिरकाल से वर्तमान है। जगल में आखेट के सहारे जीवन-यात्रा चलाने वाले आदिम पुरुष या स्त्री जो अपने को रङ्ग-विरङ्गे गोदनो से विभूषित करते थे, उनके वे अलङ्करण एक दूसरे को आकर्षित करने के रङ्गीन विज्ञापन के सिवाय और क्या थे ? पर्दे के दुर्भेद्य दुर्ग मे रहने वाली असूर्यस्पर्शा रमणियाँ भी अपने ककण, किंकिणी, नूपुर एवं पायलों की झंकार द्वारा अपने लावण्यमय अस्तित्व का पुकार-पुकार कर परिचय देती थी।

नुकीली मूँछे, लहराती-फहराती डाढियाँ, चमकते-दमकते पानीदार हथियार और अलकजाल या तर्कजाल-सी उलझी हुई पेचदार रङ्गीन पागे, आकाश-पाताल के कुलावे मिलाने वाली डीगभरी गर्वोक्तियाँ, ये सब शौर्य-सौन्दर्य के आत्म-विज्ञापन ही तो थे।

'चूरन अमल वेत का जिसको खाते है बङ्गाली' गाकर रसिक चूरन बेचने वाले; भँवर काली जामनें, एव पेड के पके पपीते की पुकार लगाने वाले रूपक और अनुप्रासप्रिय अलकारशास्त्री फेरी वाले; चमन का अगूर काश्मीर का सेव, काबुल का सर्दा, कन्धारी अनार, वम्वई के केले, नागपुर के सन्तरे की आवाज लगाकर विना फीस के भूगोल का पाठ पढाने वाले मेवाफरोश, लैला की उँगलियाँ और मजनू की पसलियाँ कहकर मुलायम ककडी बेचने वाले लखनऊ के कुँजड़े, 'क्या खूब सौदा नक्द है, इस हाथ दे उस हाथ ले, साँझ का दिया सवेरे पावे' की सदा लगाने वाले परलोक व धर्म के व्यापारी फकीर, 'हर माल पाँच आने' कहकर अपना सामान लुटाने वाले दिलदार ठेले वाले सौदागर, वादाम का मजा मूँगफली मे है, खस्ता भुरभुरी वादाम-पिस्ते वाली गजक तथा 'दहीवडे मसाले पड़े' का उद्वोध करने वाले चलते-फिरते स्कन्धवाही दूकानदार—ये सब एक से एक बढ़कर विज्ञापन-कला-विशारद ही तो होते हैं किन्तु उनकी आवाज उनके साथ ही चलती है और वह कुछ ही क्षणों मे हवा के अनन्त महासागर मे विलीन हो जाती है। वह तन से हटा तो मन से भी हटा। खोमचे वाले के चले जाने के बाद बालक भी रोना-मचलना बन्द कर देता है।

नारद मुनि के अवतारस्वरूप समाचारपत्रों की बदौलत, जिनक प्रवेश सूर्योदय की स्वर्ण-रश्मियो के साथ घर-घर में हो जाता है और ज जब तक रद्दी-बोतलवाले के बोरे के हवाले न हो जायँ, घर के कोने-कोने म अधिकार जमाये रहते है, उनके द्वारा विक्रेताओ की आवाज घर-घर मे गूँ जाती है और आवाज के धनी विक्रेता लोग अपनी गद्दियो या अपने सोफा सैटो का आनन्द लेते रहते है।

अखबारो और प्रेस के सुलभ साधन होते हुए भी विज्ञापन देना ए कला है। सफल व्यापारी को अपनी वस्तुओ के प्रचार के लिए विज्ञापनो क चक्रव्यूह रचना पड़ता है। एक बार ऐसी भरोसे की वस्तु तैयार कर ले पर जो कि बाजार मे कम्पिटीशन के होते हुए भी अगद की भाँति दृढता व साथ अपना पैर जमा लेगी वह दिग्विजय की तैयारी कर लेता है। उसक हवाई हमला शुरू हो जाता है। वह ऐसी ही चीज तैयार करता है ज समाज की किसी बडी जरूरत को पूरा करे और यदि उसकी जरूरत न भं हो तो वह अपने प्रोपेगेन्डा के बल पर जरूरत को पैदा कर लेता है। चाय व प्रचार के कारणो मे दूध का अपेक्षाकृत अभाव अवश्य है, किन्तु उसक असली श्रेय "गर्मियो मे गर्म चाय ठडक पहुँचाती है", "रोज चाय पीओ बहुत दिन जीओ" वाली नि:स्वार्थ सलाह अथवा उसके प्रचार के रग-बिरंगे पोस्टरों को है।

विज्ञापनों द्वारा जनता की मनोवृत्ति का निर्माण होता है। बड़े विज्ञापनदाता 'चट मगनी पट ब्याह' वाले तात्कालिक प्रभाव मे विश्वास नही करते। वे तो धैर्य के साथ 'कबहूँ तो दीनदयाल के भनक परेगी कान' वाली सावधानी की नीति मे विश्वास करते है। वे सामूहिक प्रभाव के फल से भली भाँति परिचित रहते है। बहुत से जहर ऐसे होते है जिनका एकदम असर नही होता है वरन् उनका प्रभाव पूर्वजन्म के कर्मो की भाँति धीरे-धीरे सचित होता रहता है। विज्ञापनो का भी प्रभाव इसी प्रकार का होता है। थोडे दिन पूर्व कुछ चीनी दवाइयो के विज्ञापन निकले थे। उनमे एक आदमी दूसरे आदमी के दिमाग मे कील ठोकता हुआ दिखाया जाता था। बस विज्ञापन का यही स्वरूप है। विज्ञापनदाता लुहार की सी एक चोट तो कम लगाता है किन्तु सुनार की सी धीरे-धीरे चोटें अधिक लगाता रहता है।

जब दस ठगो के बार-बार कहने से कि यह भेड़ नही है कुत्ता है, आदमी तथाकथित कुत्ते को फेककर सर का भार हल्का कर लेता है तो एक ही बात को रोज-रोज देखते-देखते वस्तु की उपयोगिता मे विश्वास जमने

लगता है। झूठे विज्ञापन वाले तो इस सिद्धान्त पर चलते है कि दुनियाँ वहुत वड़ी है, और उसमें वेवकूफों की कमी नही है, कोई न कोई शिकार फँस ही जायगा; किन्तु उनको यह ख्याल रखना चाहिए कि काठ की हाँडी एक ही वार चढ़ती है। हाँ, उनके भाग्य से उनको रोज नई हाँडी मिल जाती है किन्तु वकरे की माँ कव तक खैर मना सकती है। कभी न कभी कलई खुल ही जाती है। झूठे विज्ञापनदाता मनुष्य की आवश्यकताओं को भली भाँति समझते है। वे जानते है कि लोगो को किस वात की तलाश है पेट की वीमारियो के विज्ञापनों से अखवार भरे रहते है, कोष्ठबद्धता हो, खट्टी डकारें आती हों, खाने मे रुचि न हो, खाना हजम न होता हो, पेट में गैस वनती हो इन सब वातों की अचूक और रामवाण औषधि खरीदिए। कोष्ठवद्धता की जो औषधियाँ होगी उनके सम्वन्ध में विश्वास दिलाकर कहा जायगा कि यह किसी उत्तेजक या यान्त्रिक प्रक्रिया से कोष्ठबद्धता दूर नही करती है वरन् आँतो को वल प्रदान कर प्राकृतिक प्रक्रिया को प्रोत्साहन मात्र देती है। विज्ञापनकला-विशारद असम्भव को भी सम्भव कर दिखाने की हिम्मत रखता है। विना शल्य क्रिया के मोतियाविन्द दूर कर देगा और धन्वन्तरि की कठिन साधना को वी० पी० द्वारा सुलभ वनाकर च्यवन ऋषि के चमत्कार की सहस्रो आवृत्तियाँ करने को प्रस्तुत रहता है। उनको इस वात से मतलव नही कि जरूरत पूरी होगी या नही, किन्तु यह कि जरूरतमन्द शीघ्र ही उनके चुंगल मे फँस जायगा। उनके विज्ञापन वड़े आकर्षक होते है। उनकी वस्तुएँ वूर के लड्डुओ की भाँति होती है—जो खाये सो भी पछताये और न खाये सो भी पछताये।

झूठे विज्ञापन देने वालो को विज्ञापन की कला से कुछ अधिक काम लेना पडता है। उसके लिए तो उतनी ही चतुराई की आवश्यकता है जितनी कि ठगी मे। किन्तु अच्छे और उपयोगी माल वनाने वालों को भी इस कला का सहारा लेना पडता है। 'मुश्क आनस्त कि खुद विवोयद न कि अत्तार विगोयद' अर्थात् कस्तूरी वही है जिसकी खुशवू खुद आये, न कि अत्तार कहे कि यह कस्तूरी है। सस्कृत मे भी कहा है कि कस्तूरी की सुगन्ध वताने के लिए कसम खाने की जरूरत नही पडती—'नहि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते'। यह सव ठीक है किन्तु कस्तूरी की खुशबू भी अत्तार की दूकान तक ही सीमित रहती है। उसके लिए भी विज्ञापन आवश्यक हो जाता है।

विज्ञापन देने वाले की सबसे पहली जरूरत यह है कि वह यह समझे कि उसकी वस्तु की खपत किस क्षेत्र मे होगी। उसी क्षेत्र के अखबारों में वह

विज्ञापन दे। खालसा अखबार मे रेजर ब्लेड्स और सिगरेटो के विज्ञापन देने से लाभ न होगा और न वैष्णवो के अखबारो में बिस्कुट, चौकलेट, टॉफी, जैम और जेली या स्कोचह्विस्की के विज्ञापन अपना खर्च भी निकाल सकेगे। नंगों के देश मे धोबी क्या करेगा।

विज्ञापन का ढग और उसकी भाषा विज्ञापन-कला का प्रधान अङ्ग है। आजकल विज्ञापन देने वाला पृथ्वी पर स्वर्ग नही घसीट लाना चाहता है। वह सत्य और वास्तविकता की सीमाओं को जानता है। वह उससे बाहर नही जाता। वह असम्भव या अविश्वसनीय बात नही कहता है। जादू और करिश्मे में प्राचीन लोग ही विश्वास करते थे।

विज्ञापन देने वालों मे कुछ तो सीधा मार्ग पसन्द करते है और कुछ पेचीदा। लेकिन सीधे और पेचीदे दोनों मार्गो के लिए उसकी कला का ज्ञान आवश्यक होता है। विज्ञापनवाले के लिए यह जरूरी नही कि वह पूरा पेज मैटर से भर ही दे। बहुत से विज्ञापन देने वाले दो एक अको के पेज को कोरा छोडकर नीचे केवल यही छाप देते है कि यह स्थान अमुक कम्पनी के विज्ञापनो के लिए सुरक्षित है। उसका प्रभाव पाठक पर कम से कम यह तो पड़ता ही है कि कम्पनी बहुत बडी है।

कोई-कोई विज्ञापनदाता केवल यह विज्ञापन निकालते है कि अमुक दिन उनकी दूकान बन्द रहेगी, उनके कृपालु ग्राहक एक दिन पूर्व अपनी आवश्यक वस्तुएँ खरीद ले जिससे कि उनको किसी प्रकार को असुविधा न हो।

विज्ञापनदाता को सबसे पहली चिन्ता इस बात की होती है कि उसका विज्ञापन किसी प्रकार पाठक की निगाह को आकर्पित कर ले। आजकल के भाग-दौड के युग मे वहुत से लोगो को विज्ञापन पढने की फुर्सत नही होती और वे विज्ञापन के पृष्ठो को उपेक्षा की दृष्टि से देखते है इसलिए लोग विज्ञापन को ऐसे पृष्ठो मे देना चाहते हे जो आवश्यक रूप से पढे जाते हो। इससे यह अभिप्राय नही कि साधारण पृष्ठो मे विज्ञापन देना निरर्थक होता है। जरूरत वाला अपनी आवश्यकता की चीज को खोज ही निकालता है और 'ऑख के अधे गॉठ के पूरे' बेकार लोगो की कमी नही जो समय का भार हलका करने के लिए विज्ञापन के पृष्ठो मे भी अपनी दृष्टि रमाया करते है। फिर भी आवश्यक रूप से पढे जाने वाले पृष्ठो तथा कवरो पर विज्ञापन देना अधिक लाभदायक होगा क्योकि उन पर चलते-फिरते भी सहज ही मे दृष्टि पड़ जाती है।

विज्ञापन की सफलता के लिए उत्तम स्थान ही आवश्यक नहीं है वरन् उस स्थान के अनुकूल सुपाठ्य और आकर्षक सामग्री भी, जिसके विना स्थान पर किया हुआ व्यय सार्थक नही होता। स्थान के अनुकूल मैटर न होना ऐसा लगता है जैसे कि सिनेमा की स्पेशल क्लास मे मैले-कुचैले कपड़े पहने हुए भिखारी को बैठा देना। ऐसा करना 'ऊँची दूकान, फीका पकवान' का उदाहरण वन जायगा। विज्ञापन को आकर्षक वनाने के लिए उसमे मूर्त्तिमत्ता लाना पहली आवश्यकता है। पाठक की आँखों, बुद्धि और कल्पना पर जोर पडे विना, विज्ञापनदाता का अभिप्राय सूखे ईंधन की आग की भाँति एक साथ प्रकाशित हो जाय, यही विज्ञापन-कला की सफलता समझना चाहिए। यह मानी हुई बात है कि शव्दो की अपेक्षा तस्वीरें अधिक आकर्षक होती है। मूर्त पदार्थ हमारे ध्यान को शीघ्र ही अपनी ओर खीच लेते है। तसवीर नित्य नई और कुछ असाधारण होनी चाहिए। विविधता पाठक के मन मे ऊव नही पैदा होने देती।

साहित्य की भाँति विज्ञापन-कला मे तीर से सीधे निशाने का तो महत्व होता है किन्तु पाठकों की कौतूहल-वृत्ति को जाग्रत करने के लिए वात थोडे-वहुत घुमाऊ-फिराऊ ढग से कहने की भी आवश्यकता पडती है। उसमें एक विशेष आकर्षण आ जाता है। सीधी वात कहने पर वल अवश्य आ जाता है किन्तु वक्रता और घुमाव-फिराव मे सौन्दर्य अधिक रहता है। भगवान् कृष्ण की छवीली झाँकी उनके त्रिभगी वाँकेविहारी रूप मे ही मिलती है।

यदि मोटर-ट्रको का आकर्षक विज्ञापन देना हो तो ट्रको की अपेक्षा हरे-भरे फलो की तसवीर देना अधिक श्रेयस्कर होगा। उनके नीचे लिख दिया जाय कि यदि इनको ताजा का ताजा इस छोर से उस छोर तक पहुँचाना हो तो अपने निजी ट्रक खरीदिए। डालडा घी के विटामिन-वाहुल्य की घोषणा करने के लिए भागते-दौडते क्रिकेट या फुटवाल खेलते हुए वच्चे दिखाये जाते है और नीचे लिख दिया जाता है कि इस अपूर्व शक्ति और स्फूर्ति का स्रोत डालडा के टीन मे है। कोटोजम वनाने वाले एक ओर भैंस को विनौले खाते दिखाते है और नीचे की ओर उसका दूध दुहा जाता हुआ दिखाया जाता है। जव विनौले भैंस के पेट में होकर घी पैदा करते हैं तो उनसे सीधा ही घी क्यो न निकाल लिया जावे। वात सीधी-सादी है। मनुष्य की समझ में आ जाती है।

विल्स सिगरेट के विज्ञापन में दुनियाँ के गोले के ऊपर एक वड़ा

प्रश्न-चिह्न बना हुआ था। उसके नीचे यह प्रश्न था—'उत्तरी ध्रुव की खोज करने वालो के नाम जानते हो ?' उत्तर मे उन तीन व्यक्तियों का नाम था जिनको उत्तरी ध्रुव की खोज का श्रेय दिया जाता है। यहाँ तक पाठक अपनी जानकारी बढाने के लिये अवश्य पढेगा। फिर उसको स्वाभाविक कौतूहल होगा कि इस बात से आगे की बात का क्या सम्बन्ध है ?

आगे वह पढता है कि यदि इस प्रश्न का उत्तर कि सबसे अधिक सुस्वादु और वाञ्छित सिगरेट कौनसा है, जानना चाहें तो उसका उत्तर नीचे देखिये। नीचे सिगरेट का नाम लिखा रहता है। पढने वाला अगर सिगरेट पीता है तो एक बार उसके आजमाने की सोचेगा और वह नही पीता है तो विज्ञापन लिखने वाले के कौशल की प्रशसा करेगा।

अच्छे विज्ञापनों के लिए लोग गहरे पानी पैठकर दूर की कौडी लाते है। कैवेन्डर्स मैगनम सिगरेट के विज्ञापन मे एक उकाब (Eagle) और एक बाज (Hawk) उडते हुए दिखाये जाते है। भला सोचिये, कहाँ उकाब और कहॉ मैगनम सिगरेट ! उनके नीचे लिखा रहता है कि जिस तरह उकाब बाज से बड़ा होता है उसी तरह मैगनम साधारण सिगरेट से बडा होता है। खाली छोटे और बड़े सिगरेट पास-पास रख देने से इतना प्रभाव न पड़ता।

सिगरेट के और भी बहुत तरह के विज्ञापन होते है और हो सकते है। एक माता अपने बच्चे का प्रसन्नता के साथ स्वागत करती हुई दिखाई जा सकती है। जिस प्रकार मॉ अपने बच्चे को देखकर खुश होती है उसी प्रकार शौकीन पीने वाला अपनी पसन्द की छाप को देखकर।

रेलवे के विज्ञापन मे एक जगह दिखाया गया कि एक मालगाड़ी बैलून से लटकी हुई है। नीचे लिखा है कि यदि मालगाड़ियॉ बैलून से लटकाई जाकर इधर से उधर पहुँचाई जा सके तो बड़ी सुन्दर वात हो, किन्तु मालगाड़ियों को लोहे की पटरियो पर ही चलना होगा और वे सीमित है। इसलिए व्यापारियों को चाहिए कि गाडियो को अधिक देर तक लदा हुआ खड़ा न रहने दे।

सीमेन्ट के विज्ञापनों मे प्रायः लोहे के कारखाने दिखाये जाते है और लिखा जाता है कि इन कारखानो का लोहा और कोयला सीमेट की सडकों पर होकर आता है। सीमेट की उपयोगिता दिखाने के लिए उसके वने हुए स्वच्छ विशाल भवन दिखाये जाते है। उसमे लोगो की राष्ट्रीय भावना से लाभ उठाने के लिए उन इमारतो पर तिरगा झण्डा फहराता हुआ दिखाया जाता है।

राष्ट्रीय भावना से चाय वालों ने काफी लाभ उठाया है। वे उसे स्वदेशी पेय बतलाते है। चाय पैदा अवश्य भारतवर्ष में होती है किन्तु उसका अधिकाश भाग विलायती कम्पनियों को जाता है। टी सेस कमेटी के लोग उल्टे-सीधे प्रमाणों से यह साबित करते है कि इसका उल्लेख सुश्रुत मे आया है और यह पेय अशोक के समय मे भी था।

विज्ञापन की कला मे चाय के व्यापारी कुछ अधिक कुशल मालूम होते हैं। यदि यह कौशल उनके चाय पीने का ही फल हे तो यह चाय के लिए सबसे बडा प्रमाणपत्र है। चाय वाले जानते हे कि मनुष्य के लिए नेत्रों का आकर्षण गरमागरम वाष्प से सुवासित चाय के प्याले से कम नही होता हैं। इसी सहज आकर्षण का सहारा लेकर वे बड़े सुन्दर चित्र देते है।

एक चाय के विज्ञापन मे अजन्ता की कला का एक उत्कृष्ट नमूना देकर उसकी सर्वाङ्गीण पूर्ण कला की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई थी। उसके नीचे लिखा था—जैसी सर्वाङ्गपूर्ण कला इस चित्र मे है वैसी कला चाय के प्याले मे है जो अमुक प्रकार की चाय से बनाई जा सकती है।

अभी हाल मे जी० जी० फ्रूट कम्पनी का विज्ञापन हिन्दुस्तान टाइम्स मे छपा है जिसमे एक परिवार के सभी लोग—पिता, पुत्र, स्त्री, पुत्री—बडी-बडी आँखे निकाले एक दूसरे की ओर शनि की सी क्रूर दृष्टि से देखते हुए अंकित हे। एक की आँखे तो इतनी बडी बनाई गई हे कि सहज मे ही उत्सुकता जाग्रत हो जाती है कि आखिर माजरा क्या है, यह तूफान क्यो उठ खडा हुआ है ? पीछे से पता चलता है कि क्रोध हाय-हत्या का बवण्डर एक गिलास फलासव पीने से शान्त हो जाता है।

मोदी के साबुनो के जो विज्ञापन निकल रहे है उनमे कही तो तिब्बती लोगो की तसवीर निकलती है जो जन्म भर नही नहाते और कही नदी किनारे बैठी हुई स्त्री की तसवीर। एक साबुन के विज्ञापन मे कन्धे पर काँवर धारण किये हुए एक गगायात्री की तसवीर होती है। उसके नीचे लिखा रहता है कि मनुष्य को चाहे उतना पुण्य न मिले जितना कि गगोत्री से रामेश्वरम की यात्रा में मिलता हो किन्तु उस साबुन से नहाने से उतना सुख अवश्य मिलता है। इसमें अतिशयोक्ति अवश्य है किन्तु लिखने का ढग वास्तव मे प्रशसनीय है। बादशाहो के हम्मामो की तसवीर देकर यह लिखा जा सकता है कि यह सब सुख साबुन की एक टिक्की से मिल सकता है।

वस्तु के बहुत से गुणों के गीत गाने मे केवल एक आवश्यक गुण पर जोर देना अधिक लाभप्रद होता है। प्रायः दस-बारह सारा हुए, ब्रुक बॉन्ड चाय

वाले अपने गोल डब्बो की ही प्रशसा निकाला करते थे—उनके गोल होने के कारण चाय हवा से सुरक्षित (Air-tight) रहती है जिससे कि चाय मे दूषित वायु नही लगने पाती और उसका स्वाभाविक स्वाद नही बिगडता। उन दिनो लिप्टन वालों ने कुछ दिनों एक विज्ञापन निकाला जिसने कि ब्रुक बौंड के सारे प्रचार पर पानी फेर दिया। उसने अपने इश्तहार मे चाय के भरे हुए छकड़े दिखाये जो कि धूप में धीरे-धीरे जा रहे थे, उसके नीचे लिखा रहता था—'गोल डब्बो मे वन्द होने के पूर्व की दशा, किन्तु यह लिप्टन की चाय नही है।' अब लिप्टन के भी गोल डब्बे आने लगे है।

अखबारी विज्ञापन ही विज्ञापन के एकमात्र साधन नही है। कुछ लोग कहानियाँ लिखवाते है जिससे उनकी वस्तु का विज्ञापन हो। केशरञ्जन तेल के प्रचार के लिए बगला मे एक जासूसी उपन्यास निकला था। उसमे दिखाया गया था कि एक स्त्री अपने अभिभावको से पृथक् हो गई थी। उसका पता इस तरह लगा कि उसके सर मे पडे केशरञ्जन तेल की सुगन्ध बाहर तक फैली हुई थी। जासूस को मालूम था कि वह केशरञ्जन तेल डालती थी। उस घर की तलाशी लेने पर उस स्त्री का पता चल गया। डायरी, कैलेण्डर, पेपरवेट, तश्तरियाँ आदि भेंट करना तथा और भी अनेकानेक साधन है।

डायरी और सूचीपत्रो मे ऐसी ज्ञातव्य बातें लिखी जाती हे जिनके लिए लोग उन्हे सुरक्षित रक्खे। कौन नही चाहेगा कि उसके पास पत्रा हो क्योकि पत्रे की आवश्यकता को तो कविवर बिहारी भी नही मिटा सके थे ('पत्रा हो तिथि पाइए वा घर के चहुँ पास, निसदिन पूनो ही रहै आनन-ओप-उजास')। कौन नही चाहेगा कि उसके पास एक-एक दिन की तनख्वाह का तुरन्त हिसाब लगाने वाला नक्शा हो ? छुट्टियो की सूची सभी अपने पास रखना चाहते है। डाकखाने की पार्सल वगैरह की रेटो की जानकारी से सभी लोग लाभ उठाना चाहते है।

आजकल तो विज्ञापन वाले शहर की दीवालो को रङ्ग मारते है किन्तु उनकी विशेष कदर नही होती। इन मुफ्त या चोरी के विज्ञापनों से तो किसी की दीवाल किराये पर ले लेना अधिक लाभदायक तथा सज्जनोचित है।

ट्रेन, वस, रेलवे स्टेशन की दीवालें आदि नोटिसो के लिए भित्ति का काम देती है। वहुत से लोग अखवार केवल विज्ञापन की सुविधा के लिए निकालते हे क्योकि उसमे एक पैसे के ही टिकट से काम चल जाता है।

आजकल के सिनेमा-प्रेमी ससार के लिए स्लाइडो द्वारा विज्ञापन देना विशेष रूप से सफल होता है क्योकि स्लाइड का मैटर वरवस आँखो के

सामने आ जाता है। किन्तु कभी-कभी जब इनकी संख्या बढ़ जाती है तब दर्शक लोग विज्ञापन की अपेक्षा फिल्म देखने के लिए अधिक उत्सुक होते हैं। स्लाइड की अपेक्षा फिल्म ज्यादह आकर्षक होती है। इसीलिए बड़ी-बड़ी कम्पनियो के चलते हुए कारखानों की फिल्मे भी दिखाई जाती है जिससे कि पाठको के मन पर उनके कार्य-व्यापार की विशालता का प्रभाव पड़े। बङ्गाल केमीकल, कोटोजम और डालडा कम्पनियो के कारखानो की फिल्मों का प्रदर्शन हो चुका है। कोई-कोई मनचले लोग हवाई जहाज द्वारा विज्ञापन वितरण कराते है। ये सब ग्राहकों को आकर्षित करने के विभिन्न रूप है।

आजकल विज्ञापन का युग है। बहुत सी विदेशी कम्पनियाँ तो तीन-चौथाई रुपया विज्ञापन मे खर्च करना चाहती हैं और एक चौथाई रुपया वस्तु के बनाने मे।

आजकल की व्यापारिक सफलता का अधिकांश श्रेय विज्ञापनों को है। विज्ञापनो का कौशलपूर्ण आयोजन और संयोजन कुशल व्यापारी का प्रथम कर्तव्य है। इसके लिये अनुभव, शिक्षा और सत्परामर्श की आवश्यकता है।

[*'व्यापार कानून'*, १९४७]

मिल मजदूर

उसके कार्य-कौशल बढ़ाने में मनोविज्ञान का उपयोग

मशीन और मनुष्य—यह कलियुग नही, कल-युग है। इसमे यन्त्रो का प्राधान्य है। वर्तमान सभ्यता ने हमारी आवश्यकताओं को बढाकर वस्तुओ के उत्पादन की समस्या को कठिन बना दिया है। वैयक्तिक गृह-उद्योग उन आवश्यकताओं की पूर्ति मे असमर्थ रहते है। बिजली और भाप की शक्ति से चलने वाली मशीनें भी खटाखट दिन-रात दो-दो पारी काम करके भी देश की माँग को पूरा नही कर पाती। इसीलिए महात्मा गांधी के सरल जीवन और खादी और गुड के प्रचार के होते हुए भी यन्त्रों का साम्राज्य बढता जा रहा है। कोई चीज ऐसी नही है जो मशीन से न बनती हो और जिसके कारखाने न होते हो।

प्राचीन गृह-उद्योगों और आजकल के कल-कारखानों के उद्योगों मे एक यह बड़ा अन्तर है कि गृह-उद्योगो मे उत्पादक प्रायः पूँजीपति और मजदूर एक ही होता था, और आजकल की मिलो मे पूँजीपति और मजदूर अलग-अलग वर्ग हो गये है। पूँजीपति प्रायः एक होता है, मजदूर अनेक। दूसरा अन्तर यह है कि गृह-उद्योग मे प्रायः एक ही व्यक्ति एक वस्तु के निर्माण का आदि से अन्त तक उत्तरदायी होता था और वह उस वस्तु का उत्पादक या जनक होने का वास्तविक गर्व कर सकता था। उसकी उत्तरोत्तर उन्नति के लिए वह उत्सुक रहता था। इसके विपरीत मिलों में एक वस्तु अपनी पूर्णता प्राप्त करने से पूर्व कई कार्य-श्रेणियों मे होकर गुजरती है और कई मजदूर उसके किसी अंश के ही (पूर्ण के नही) उत्पादन और निर्माण के उत्तरदायी होते है। मिल के मजदूर को उसकी मिल मे तैयार की हुई धोती या चादर पर वह गर्व नहीं हो सकता जो कि एक जुलाहे को अपने बनाये खादी के थान पर। गृह-उद्योग का मजदूर एक कलाकार का व्यक्तित्व रखता है और मिल का मजदूर एक बँधे हुए ढाँचे मे काम करता है। वह दूसरे की ताल पर नाचता है और मशीन के साथ काम करता हुआ स्वय मशीनवत् हो जाता है। वह व्यक्ति नही, एक इकाई मात्र रह जाता है।

वैयक्तिक कौशल—यद्यपि मिल मे मशीन बहुत-कुछ काम करती है, जो एक आदमी को बीस आदमी के काम करने की शक्ति दे देती है, फिर भी

वह मनुष्य का नितान्त बहिष्कार नही कर सकती। उसका संचालन और उपयोग मनुष्य के हाथ मे रहता है। मशीन से अधिक से अधिक लाभ उठाना और उसको अच्छी हालत में रखना व्यक्ति का ही काम है। मिल मे एक व्यक्ति का आंशिक उत्तरदायित्व होते हुए भी वह उतना ही आवश्यक है जितना कोई मशीन का पुर्जा। यद्यपि यह ठीक है कि मिल मे एक मजदूर के स्थान मे दूसरा मजदूर रक्खा जा सकता है, इसी तरह से मशीन का पुर्जा भी बदला जा सकता है, तथापि जैसे उसके 'फिट' होने और घिसने-मँजने मे देर लगती हैं वैसे ही नये मजदूर के भी उस कार्य-प्रणाली मे 'फिट' होने मे देर लगती है। इसलिए नौकरी का स्थायित्व जितना मजदूर के लिए जरूरी है उतना मालिक के लिए भी। मजदूर का आंशिक उत्तरदायित्व होते हुए भी हर एक मजदूर के वैयक्तिक कौशल और उसकी योग्यता (efficiency) पर बहुत-कुछ निर्भर रहता है। मजदूर के वैयक्तिक कौशल के बिना मशीन का कौशल निरर्थक रहता है।

मनोविज्ञान की आवश्यकता—यह कौशल बाह्य और आन्तरिक कारणो से घटता और बढता रहता है। मशीन के न मन होता है और न हृदय, किन्तु उसका कौशल और कार्य-सम्पादन का परिमाण उसकी सफाई और देख-रेख पर निर्भर रहता है, फिर मजदूर तो हाड-माँस-चाम का सजीव मनुष्य है, उसके मन भी होता है और हृदय भी, जो प्रत्येक सुख की तरङ्ग और दुख की चुभन पर स्पन्दित हो उठता है और उसके मन और हृदय की प्रत्येक फडकन उसकी कार्य-प्रणाली मे अन्तर डालती है। मजदूर की कार्य-प्रणाली के अन्तर पर मालिक का नफा-नुकसान निर्भर रहता है। इसलिए मजदूर को समझने के लिए मनोविज्ञान की आवश्यकता होती है। मजदूर के एक चेतन मन (Conscious Mind) होता है जो उसको अपने कर्तव्या-कर्तव्य, नफा-नुकसान का ध्यान दिलाता रहता है। उसका दूसरा अवचेतन मन (Subconscious Mind) होता है जो हर एक छोटी से छोटी कष्ट की चुभन, अपमान, हीनता-भाव को बढाने वाले वाक्यो आदि का चित्रगुप्त का सा लेखा-जोखा रखता है और मनुष्य की कार्य प्रणाली को प्रभावित करता रहता है। मजदूर के एक सामूहिक मन (Group Mind) भी होता है, जिसकी प्रेरणा से वह जन-समूह की भाव-धारा मे बहकर कभी उससे हडतालें कराता है (जिस प्रकार स्त्रियो और बालकों का रोना बल होता है और मिनिस्टरो का त्यागपत्र दे देने का बल होता है उसी प्रकार मजदूर का 'हड़ताल' एक प्रबल अस्त्र होता है) और कभी उनसे मिल-मालिकों के खिलाफ नारे लगवाता है। व्यक्ति जो अकेला नही करता

वह समूह के प्रवाह में पड़कर बिना लज्जा-सकोच करने लगता है। मनोविज्ञान हमको मजदूर के तीनो प्रकार के मनो को समझने मे सहायक होता है।

वैयक्तिक रुचि—हर एक मजदूर या कार्यकर्त्ता की एक वैयक्तिक रुचि होती है। प्रायः लोग उस रुचि के अनुकूल तो काम नही तलाशते। काम मिलना न मिलना इस देश मे बहुत कुछ आकस्मिकता पर निर्भर रहता है। इसमें सिफारिश और प्रभाव भी काम करता है। जहाँ जगह खाली हुई वहाँ आदमी की भर्ती कर दी जाती है। लेकिन मनुष्य सफल तभी होता है जब उसको उसकी रुचि और योग्यता के अनुकूल काम मिलता है। अगर हम ऐसे आदमी को जो बहीखाता लिखने मे रुचि रखता हो, सूत सुलझाने पर लगादे तो वह उस काम मे मुश्किल से ही सफल होगा। सूत सुलझाने वाला कपडे को रँगाई या माढ़ देने मे कुशल नही हो सकता। वैयक्तिक रुचि का निश्चित करना सहज काम नही है। इसके लिए कुशल मनोवैज्ञानिक की आवश्यकता है। कार्य का चुनाव यदि मजदूर या कार्यकर्ता पर ही छोडा जाय तो अच्छा रहता है। एक-दो दिन परीक्षा मे लग जायँ तो भी बुराई नही, किन्तु कौशल के लिए उपयुक्त मनुष्य को उपयुक्त स्थान मे लगाना चाहिए। अनुपयुक्त मनुष्य को सदा एक न एक शिकायत बनी रहती है। 'नाच न जाने आँगन टेढ़ा' की लोकोक्ति सार्थक हो जाती है। पाश्चात्य देशो मे हर एक काम का विश्लेषण किया जाता है। उसके लिए साधारण मनुष्य को कितना समय लगेगा, ये सब बाते निश्चित रहने पर व्यवसाय के लिए मनुष्य की वैज्ञानिक परीक्षा मे ये लोग समर्थ होते है। ऐसे परीक्षणो को व्यवसाय-सम्बन्धी परीक्षण (Vocational tests) कहते है।

थकावट की समस्या—थकावट की समस्या यद्यपि बहुत कुछ योग्यता और रुचि पर निर्भर रहती है तथापि मनुष्य मनुष्य ही है। जब मशीन भी थक जाती है तब मनुष्य का क्या कहना है? थकावट हो जाने पर कार्य-कौशल कम हो जाता है और वस्तु अच्छी नही बनती। थकावट दूर करने के लिए विश्राम की आवश्यकता रहती है और शक्ति के पुनः सचय के लिए कुछ जलपान का भी प्रबन्ध श्रेयस्कर होता है। विश्राम के समय मे कुछ मनोविनोद की आवश्यकता रहती है जिससे लगातार एक ही प्रकार के काम करने की ऊब दूर हो जाय। मशीन के काम मे हाथ के काम की अपेक्षा अधिक ऊब पैदा होती है। ऊब पैदा होने पर जब वह अन्यमनस्क हो काम करने लगता है या दिवास्वप्न देखने लगता है तब दुर्घटनाएँ होने की अधिक

सम्भावनाएं रहती है। इसलिए मजदूरों की ऊब कम करने का यत्न तो होना चाहिए ही, कभी-कभी योग्यतानुकूल काम मे थोडा-बहुत परिवर्तन कर देना भी आवश्यक है किन्तु उनकी सचेतता का भी निरीक्षण करते रहना वाञ्छनीय होता है। यदि मजदूरी काम के अनुकूल दी जाय तो असावधानी पर्याप्त मात्रा मे कम हो जाती है।

ऊब के अतिरिक्त थकावट के और भी कारण होते हैं। मशीन की खराबी के कारण उसमे आवश्यकता से अधिक परिश्रम कार्यकर्त्ता में झुँझल उत्पन्न कर देता है। उसको तुरन्त दुरुस्त करा देना चाहिए। काम करने की स्थिति से, अर्थात् किसी खास तरह से बैठने या खडे रहने मे दूसरी तरह से खड़े रहना या बैठने मे अधिक या कम परिश्रम पड़ता है अथवा जगह की कमी के कारण स्वतत्र हाथ-पैर चलाने की पूरी गुन्जाइश न होने से भी काम की सफाई और शीघ्रता मे अन्तर पड़ जाता है। इन उपकरणो के अतिरिक्त रोशनी, हवा और तापमान का भी थकावट पर बहुत प्रभाव पडता है। बिजली की रोशनी से सूर्य का प्रकाश अधिक स्वास्थ्यजनक है। प्रकाश न तो इतना उग्र हो कि चकाचौंधी उत्पन्न कर दे (इसके लिये अच्छी ढाँप (Shadc) की उचित व्यवस्था होनी चाहिए) और न इतना कम हो कि झुक-झुककर देखना पडे या आँखो पर जोर डालना पडे। प्रकाश मे छाया का भी ध्यान रखना पडता है कि कही कार्यकर्ता की छाया ही तो उसके काम की चीज को अन्धकार मे नही डाल देती है। प्रकाश के लिए यह जानना चाहिए कि काले और गहरे रग की वस्तुएं प्रकाश को पूरा-पूरा प्रतिफलित नही होने देती। सफेद पुती हुई दीवाले प्रकाश को पूरा का पूरा प्रतिफलित कर देती हे।

सीलदार या बदबूदार जगहो मे, विशेपकर जहाँ हवा का स्वतन्त्र संचार न होता हो, मनुष्य जल्दी थक जाता है। उसके स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पडता है और वह शीघ्र ही काम करने के अयोग्य हो जाता है। गर्मी-सर्दी भी काम पर अपना प्रभाव डालती है। यदि पसीना चू रहा हो तो आधा समय पसीना पोंछने में चला जाता है। इसी प्रकार शीत भी हाथों मे ठिठुरन पैदा कर कार्य की क्षमता को घटा देता है। शोर-गुल और खट-खट भी झूँझल और थकावट पैदा करने वाली चीजे है। किन्तु फैक्टरी या मिल मे इनका नितान्त बहिष्कार नही हो सकता है। शोर-गुल यथासम्भव कम किया जा सकता है। ये छोटी-छोटी असुविधाएं मनुष्य के अवचेतन मन पर असर डालती रहती है और ये चेतन मन को भी प्रभावित करती

रहती है। जब कोई भारी आर्थिक शिकायते होती है तब ये पूर्ण रूप से उभार मे आकर उन शिकायतो को बल प्रदान करती है और व्यक्ति समूह के प्रभाव मे सहज ही मे आ जाता है।

निश्चिन्तता—मजदूर या कार्यकर्त्ता की कार्यक्षमता को घटाने वाले उपकरणो मे उसका चिन्तित रहना भी है। इसी के लिए कुशल-क्षेम क्षेत्र (Welfare Centres) और सुविधाओं की देख-रेख करने वाली सस्थाओं का जन्म होता है। मजदूर के लिए सबसे अधिक चिन्ता की चीज उसकी नौकरी है। नौकरी की निश्चिन्तता सबसे पहली आवश्यकता है। इसके साथ यदि बुढापे के समय के लिए बेफिक्री हो जाय तो उसको दूसरे किसी काम करने की चिन्ता नही रहती है। इसके लिए पेन्शन, बोनस, प्रोवीडेण्ट फड, सामूहिक बीमा आदि की व्यवस्था आवश्यक है। इन बातों से काम करने के लिए प्रोत्साहन भी मिलता है। इसके पश्चात् घर या रहने के स्थान की ओर उसकी सुव्यवस्था की निश्चिन्तता है। प्रायः बडी-बडी मिले मकानों का भी प्रबन्ध करती है। अगर घर दूर हो तो आने जाने की भी निश्चिन्तता आवश्यक है। अपना और घर वालो का स्वास्थ्य और हारी-बीमारी के समय डाक्टरी मदद की निश्चिन्तता भी परम वाञ्छनीय है। खतरे से बेफिक्री भी इसी के साथ की सोचने की चीज है। इसके लिए सबसे ज्यादा जरूरी है चलने-फिरने तथा हाथ-पैर चलाने के लिए पर्याप्त स्थान की गुञ्जाइश।

हारी-बीमारी के अतिरिक्त मजदूर के सामने बच्चों की शिक्षा का भी प्रश्न रहता है। बहुतसे कारखाने अपने कार्यकर्त्ताओ के लिए अलग स्कूल खोल देते है जिनमे निःशुल्क शिक्षा मिलती है। कन्ट्रोल के समय तो राशन और नोन-तेल-लकडियो को घर पहुँचाने की समस्या भी उग्र हो जाती है। इसके लिए भी मिल-मालिक को कुछ प्रवन्ध करना वाञ्छनीय है। मजदूर के आराम और छुट्टी के सम्बन्ध मे तो पहले ही कहा जा चुका है।

सद्व्यवहार—व्यक्ति पर प्रभाव डालने वाली वस्तुओं मे व्यवहार सबसे वड़ी चीज है। एक जरा सी कटुता का बीज अवचेतन मन मे पहुँचकर कभी-कभी भयङ्कर रूप धारण कर लेता है। गैरहाजिरी-कटौती के मामले मे न तो इतना लापरवाह होना चाहिए कि अनुशासन ही न रहे और न इतना कठोर कि वह कठोरता अखरने लगे। मालिक की अनुदारता कभी-कभी विद्रोह का कारण बन जाती है। इस सम्वन्ध मे सबके साथ अगर समान व्यवहार रहे तो व्यक्ति मे जलन नही उत्पन्न होने पाती है। थोड़ी सी

भी असमानता या पक्षपात आपस में ईर्ष्या-द्वेष ही नही उत्पन्न कर देता वरन् मालिक के प्रति भी विद्रोह की जडे जमा देता है।

सद्व्यवहार में दूसरी आवश्यक वात यह है कि मजदूर में किसी प्रकार के हीनता-भाव को न उत्पन्न होने दिया जाय। उसके साथ उत्सवों मे शामिल होना उसके सुख-दुख की पूँछना इस हीनता-भाव को कम कर देता है। वाणी का वाण वहुत जहरीला होता है। वाक्-वाणो का यथासम्भव कम प्रयोग करना चाहिए। हमको कभी यह न भूलना चाहिए कि मजदूर भी मनुष्य है। पूंजीपति उसी की वदौलत मौज करता है। यदि मजदूर की आंशिक मौज या सुविधाओं मे अन्तर आया तो उसको एक साथ पूंजीपति और मजदूर का अन्तर मालूम पडने लगता है और उसमे विद्रोह की भावना जाग्रत हो जाती है।

मजदूर का सामूहिक मन—मजदूर के सामूहिक मन (Group Mind) को प्रभावित करने वाले थोडे से विद्रोही नेता (Ring Leaders) होते है जो कुछ मोटी-मोटी वातो व चुने-चुनाए शब्दो के आधार पर मजदूर को एक प्रवाह मे वहा ले जाते हे। उस समय व्यक्ति सोचता कम है, वह भावों से आन्दोलित हो जाता है। नारे उसके जीवन के आदर्शवाक्य वन जाते है। यदि उसकी कोई वैयक्तिक कठिनाइयाँ होती है या उसके साथ कोई असद्-व्यवहार हुआ हो तो यह सामूहिक चेतना और भी वल पकड़ जाती है। वहुतसी सामूहिक शिकायतो के मूल मे वैयक्तिक शिकायते होती है जिनकी पहले उपेक्षा की गई थी। वैयक्तिक शिकायतो की उपेक्षा न करके उनके आधार पर और लोगो की भी शिकायतो को दूर कर देना चाहिए। सामूहिक मन के प्रभावित हो जाने पर सहृदयता से काम लेना चाहिए किन्तु पूरे समूह को समझाने और उससे शर्ते तय करने का प्रयत्न करना अभीष्ट सिद्धि मे वाधक होगा। समूह के मन नही होता। मन और चिन्ता-शक्ति नेताओं को होती है। उनसे प्रतिनिधि रूप से समझौता करना चाहिए। ऐसा करने से अधिक सफलता मिल सकती है।

[*'व्यापार कानून'*, १६४७]

चोर बाजार

नामकरण—कलकत्ते के चोर बागान की भाँति चोर बाजार शहर के किसी बाजार या मुहल्ले का नाम नही है जिसको आप सहज मे तलाश ले और न वह किनारी बाजार या चाँदनी चौक का सा खुला बाजार है जहाँ ले जाकर ताँगा या टैक्सी वाला आपको खडा कर दे। वह भगवान् की भाँति हर एक बाजार मे व्याप्त है और साधारण चर्मचक्षुओ से देखने वालो को कही भी नही है। चोर बाजार उसे इसलिए नही कहते है कि उसमे क्रय-विक्रय करने वाले चोरी का माल बेचते और खरीदते है। वह माल प्रायः सरकार की इजाजत से खरीदा हुआ होता है। खरीदार को धोकाधड़ी से माल नही दिया जाता। सोते मे उसके घर मे सेंध नही लगाई जाती, न उसके अनजाने गाँठ काटी जाती है। जितनी होश-हवास की दुरुस्ती के साथ माल-जायदाद का बयनामा लिखा जाता है, उससे भी अधिक चेतनता के साथ चोर-बाजार का सौदा होता है। बेचने वाले और खरीदार भी साधारण जनता की दृष्टि मे धर्मात्मा, साव और साख वाले समझे जाते है, फिर यह चोर बाजार क्यो कहलाता है ?

चोर बाजार यह इसलिए कहलाता है कि इसका माल खरीदा तो जाता है प्रायः सरकार की इजाजत से, किन्तु बेचा जाता है सरकार की निश्चित की हुई दर के खिलाफ और सरकार की जानकारी से बाहर। इसका खुले आम सौदा होते हुए भी इसमे थोडी-बहुत गुपचुप का सा वातावरण रहता है। कीमत की या तो रसीद नही दी जाती और यदि दी भी जाती है तो वाजबी दामो की। वाजबी दामो से ऊपर के दाम बट्टे खाते जाते है। खेल ख़तम और पैसा हजम।

गरज बावली होती है और गरज वाला खुशी-खुशी उल्टे उस्तरे से मुड जाता है। जिस काम को सबके सामने न कर सके, जिसके करने को सबके सामने स्वीकार करने मे सकोच हो और जो बिना अधिकार किया जाय वही चोरी का काम कहलाता है। इसलिए इस तरह के सौदे का नाम चोर बाजार पड़ा।

ब्लेक मार्केट और लक्ष्मीजी—अँग्रेजी मे इसी को ब्लेक मार्केट या चलतू भाषा मे ब्लेक कहते है। चोर को चाँदनी रात नही सुहाती, वह अधकारप्रिय होता है। मावस की रात चोरो की मौसी कहलाती है, भीत

अंग्रेजी में इसे काला वाजार कहते है और काला चोरी, दगावाजी और वेईमानी का प्रतीक अर्थात् चिह्न भी है। लाक्षणिक अर्थ में जो काले दिल के आदमी का अर्थ होता है वही काले वाजार का अर्थ होता है। लक्ष्मीजी होती तो है स्वय श्वेत वर्ण की (आजकल उनके चाँदी के चमकते-दमकते ठनठनाते रूप मे दर्शन दुर्लभ हो गए है), उनको श्वेत कमल और सफेद चीजों से प्रेम भी है किन्तु वे आती है घोरतम काली अमावस की रात मे। तभी वे ब्लेक मार्केट वालो के घर विशेष रूप से कृपा करती है।

उत्पत्ति के कारण—चोर वाजार लड़ाई और कन्ट्रोल के दिनों की उपज है किन्तु इसके कई और भी सहायक अग है। कन्ट्रोल या नियत्रण उसी वस्तु का होता है जिसका उत्पादन सीमित होता है। कन्ट्रोल के कारण विक्रेताओ को सख्या भी सीमित होती है। कन्ट्रोल की वदौलत टुटपुंजिए व्यापारी नष्ट हो गए। उन वेचारो के साथ पूर्ण सहानुभूति है। आजकल कन्ट्रोल का रोजगार ताँगे-मोटर वाले, वगुले के पर से सफेद कुर्ते पहनने वाले लक्ष्मी के लाडले और हाकिम अफसरो मे प्रभाव और पहुँच वाले का ही है, जो वातो की खातिर-खुशामद के जवानी जमा-खर्च के साथ हर तरह की कसर खाने को भी तैयार रहते है। 'खुशामद से आमद है, इसी से वड़ी खुशामद है।'

कन्ट्रोल का माल सीमित होता है, उसके वेचने वालों की संख्या सोमित होती है किन्तु उनकी लालच की सीमा नही होती और न खरीदारो की सीमा होती है। 'एक अनार और सौ वीमार' की वात हो जाती है। लडाई के दिनो मे रुपयो की आमदनी भी वढ़ गई। इधर वेचने वाले भी वस्तु को इकट्ठा करके छिपाकर रखना चाहते हैं कि 'दाग्त आयद वकार'—रक्खी हुई चीज काम आती है—न जाने कव मिट्टी की चीज सोने की हो जाय और खरीदार भी इस फिक्र मे रहता है कि फिर चीज मिले या न मिले, खरीद लो। माँग (Demand) और वस्तु की प्राप्यता (Supply) के स्वाभाविक नियम तो काम करते ही है किन्तु वेचने वालो का लालच और दूसरो की जरूरत से लाभ उठाने की प्रवृत्ति उसमे और भी सान चढा देती है। जहाँ उसमे छिपाकर वेचने की भावना आई वही वह चोर वाजार की चीज वन जाती है। इस प्रवृत्ति को कन्ट्रोल विभाग के अफसरों की रुपए से खरीदी हुई दर-गुजर पालती-पोसती रहती है।

चोर वाजार के क्षेत्र—हर एक वस्तु जिसकी कीमत नियन्त्रित है उसके चोर वाजार का अलग-अलग विधान है, जिसको उसके जानकार ही भली

प्रकार समझते है। चोर बाजार की विशेष वस्तुएँ गल्ला, शक्कर, कपडा, पेट्रोल, कागज, लोहा, सीमेन्ट, औषधियाँ आदि है। अब प्रश्न यह है कि कन्ट्रोल के होते हुए ब्लेक मार्केट के लिये वस्तु आती कहाँ से है? कन्ट्रोल के प्रारम्भ होने से पहले तो लोगो के पास जो स्टॉक था उसको छिपा लिया और उसको चोर बाजार मे बेचा। कन्ट्रोल शुरू होने के बाद दूकानदारों ने माल इकट्ठा करने के नाना प्रकार के उपाय सोच लिए। आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है।

गल्ला—गल्ला वैसे तो कन्ट्रोल से मिलता ही है किन्तु गेहूँ इतना भी नही मिलता कि ईमानदारी से तो सत्यनारायण की कथा के प्रसाद के लिए पजीरी भी बन जाय और 'गोधूम शालि चूरण वा' अर्थात् गेहूँ का आटा न हो तो चावल का चूर्ण ही सही की बात चरितार्थ होने लगती है। लेकिन आजकल कन्ट्रोल के दिनो मे यह बात हँसी की सी नही लगती, नही तो पहले जमाने मे यह कहना कि गेहूँ न हो तो चावल का आटा लगा दो, ऐसा ही लगता जैसा कि एक कविराज का कहना 'महाराज! घोडा न हो तो हाथी ही दीजिए।' जब सत्यनारायण की कथा के लिए गेहूँ नही तो व्याह-शादी के लिये कहाँ? किन्तु जहाँ ऐसा मौका आता है वहाँ हृदय के द्वार के साथ तिजौरियो के भी कपाट खुल जाते है और 'दोनो हाथ उलीचिए जो घर बाढे दाम' की बात चरितार्थ होने लगती है, वहाँ और लोगो के पेट भरने के साथ चोर बाजार वालो का भी पेट भरना पडता है। ईमानदारी से तो व्याह के लिए कुल नौ सेर गेहूँ मिलते है, वे तो ऊँट के मुँह मे जीरे का काम देते है। फिर यह अन्न आता कहाँ से है? कुछ तो सीधा उत्पादक किसानो के यहाँ से—वे भी ब्लेक करना जान गए हैं—कुछ सरकार छीज-छाज, गलन-सडन के लिए छूट देती है और कुछ तौल मे भी कस लिया जाता है। कुछ लोग (यद्यपि बहुत नही) किन्ही कारणवश राशन लेने मे चूक भी जाते है। इस प्रकार कन-कन करके मन जुड जाता है। आटा तो चक्की वाले भी बहुत जमा कर लेते है, वे भी उसे मनमाने दाम बेचते है।

कपड़ा—यही हाल कपड़े का है। जहाँ कफन के लिए भी लाले पड़ते है और कभी-कभी लोग कुर्त्तो के लिये कफन का नाम लेकर कपडा खरीदते है और धोतियो के बजाय लोग घुटन्ने पहनने लग गए है वहाँ अमीर आदमियो के यहाँ थान के थान कटते रहते है। दर्जी अब भी बेकार नही हुए है। कपड़े मे भी वही तरकीबे चलती है। कुछ तो उत्पादक भी इधर का उधर कर देते है। कुछ गरीब आदमी धनाभाव से कपड़ा ले भी नही पाते। कुछ

फाइन की वजाय कोर्स लेते हैं। कुछ कपडा रियासतो से, जहाँ कोटा तो मिलता है लेकिन नियन्त्रण इतना कठोर नही है, छिपा-चोरी आजाता है स्पेशल परमिट वाले भी कभी-कभी कुछ हेर-फेर कर लेते है और कुछ गरीव आदमी अपने परमिट वेच भी देते है। किसानो का गल्ले के वदले का कपड़ा भी व्लेक मे जाता है।

शक्कर—ससार मे मधुमेही लोगों के वढ जाने पर भी शक्कर का खर्च कम नही हुआ है। देवता लोग, स्वर्ग के और इस लोक के भी, विना मिष्टान्न के तृप्त नही होते। व्याह-शादो की दावत विना मिठाई के फीकी रहती है या विना दूल्हे की वरात वन जाती है। चाय, शरवत विना गार्हस्थ-धर्म का आवश्यक अग आतिथ्य-सत्कार पूरा नही होता। खाना नही तो क्या पीने से भी हाथ धो वैठें? शक्कर सग्रह के भी वे ही साधन है जो प्रायः गल्ला और कपडे के। इनके अतिरिक्त हलवाई, शरवत-मुरव्वे वाले भी अपने कोटे मे से व्लेक मार्केट कर लेते हैं। प्रभावशाली लोग खर्च से ड्योढा कोटा ले लेते है और कभी-कभी व्लेक मे शक्कर का वेचना शरवत-मुरव्वे के काम से अधिक लाभदायक होता है। जव सीधी शक्कर के वेचने से चाँदी वनती है तव शरवत-मुरव्वे और मिठाइयाँ कौन वनाए? रिशवत की वदौलत शक्कर का यातायात भी सुलभ हो जाता है। राजपूताने की एक रियासत के एक शहर मे धनाढ्य मारवाडी अधिक रहते है। वहाँ पास की एक रियासत से शक्कर की छिपा चोरी आमदनी होती है। ऊँट पर शक्कर आती है। रास्ते मे जव कोई परमिट माँगता है तो उसको हैसियत के मुताविक दो रुपए से लगाकर वीस रुपए के नोट परमिट के रूप मे दिखाए नही वरन् दे दिए जाते हे।

पेट्रोल—इसका सम्वन्ध लारी ट्रक वालो या सम्पन्न लोगो से है जो सैर-सपाटे या व्याह वरातो के लिये पेट्रोल की तलाश मे रहते हे। इसके परमिट नही कूपन चलते हैं जो करीव-करीव नोटो के आकार के होते हैं और नोटो की ही भाँति प्रायः दो से पाँच रुपये तक मे विक जाते है। कूपनों की चोरी और उनका व्लेक आदि स्रोत से चलता है, यानी छपते-छपते वे यारो का माल वन जाते हैं। इनको गड्डी की गड्डियाँ छपती है और रेल के यातायात में भी इधर से उधर हो जाते हे। खानापूरी और मुहर-छाप भी ले-देकर हो ही जाती है। जव वे भुन जाते हे तव कही चोरी का पता चलता है। चोर निकल जाने पर लकीर पीटी जाती है। पहले तो उनकी छानवीन कम होती थी किन्तु जव से पेट्रोल का आग लगाने मे दुरुपयोग होने लगा है

तब से पूँछ-ताँछ होने लगी है। कूपनो के अतिरिक्त सरकारी विभाग और ठेकेदारो को पेट्रोल देने मे कजूसी नही होती। चक्रपाणि ड्राइवर लोग या तो बचत के कूपन सीधे ही बेच देते है या दूकानदार को दे देते है। दूकानदार फिर बिना कूपन वालो से जी खोल कर दाम लेता है। कुछ मोटरे टूट-फूट के कारण चलती भी नही है और पेट्रोल कम खर्च करती है। उन सब कारणो से बचत का पेट्रोल बेकारी के दिनो की घी-चुपडी रोटी तो दे ही देता है, दूध मलाई न दे सके तो दूसरी बात है।

कागज—यह सरस्वती देवी के उपासको की वस्तु है किन्तु इसके व्यापारी लक्ष्मी देवी के लाड़ले पुत्र है, लक्ष्मी-वाहन कहना उनका अपमान होगा। इसमे प्रायः कोटा के दुरुपयोग से ही ब्लेक होता है। जिन लोगो को प्रभाववश ज्यादा कोटा मिल जाता है या जो अपनी जरूरत से भी कम खर्च करते है वे ही व्यापारी के साथ मिलकर या सीधे तौर से ब्लेक कर लेते है। जिन लोगो के पास पहला स्टॉक था उन्होने तो ऊने के दूने किए ही किन्तु वह तो 'चार दिना की चाँदनी' थी। प्रभावशाली लोगो को चाँदनी रात नही तो बिजली की रोशनी का तो लाभ रहता ही है। भारत मे बसे हुए लाहौर के एक पुस्तक प्रकाशक कहते थे कि बाबूजी आपकी पुस्तक छाप कर क्या करे ? अगर हम विना छापे सादा कागज ब्लेक मे बेच दे तो उसमे ज्यादह फायदा है। आजकल छापने में लेबर तेज होने के कारण वड़ा खर्चा पडता है। बेचारा लेखक मारा जाता है। प्रकाशक के तो दोनो आम मीठे है।

लोहा, सीमेन्ट आदि—इन सबका ब्लेक परमिटों के दुरुपयोग से होता है, अथवा ईमानदार ग्राहकों को सौ बहाने बनाकर नाही कर बेईमान ग्राहकों की माँग पूरी करने से होता है। मकान बनाने का सक्रामक रोग जितना बढता जाता है उतना ही सीमेन्ट बाजार से अन्तर्ध्यान होता जाता है। सरकारी इमारतो और पुलो आदि मे सीमेन्ट की खपत पर्याप्त मात्रा मे होती है किन्तु विश्वस्त सूत्रो का कथन है कि उसका एक उल्लेखनीय अश स्टॉक से काम पर जाते हुए ब्लेक करने वालों की अँधेरी कोठरियो मे लीन हो जाता है। बहुत-सा सीमेन्ट सार्वजनिक सस्थाओं के नाम पर खरीदा जाकर बहुत से नीतिशिथिल सचालकों के निजी लाभ का कारण बनता है। औष-धियाँ, साबुन आदि का भी यही हाल है। वस्तुओ का मूल्य या तो सरकार से नियन्त्रित रहता है या कम्पनी से किन्तु इनकी खरीद के लिए परमिट नही होती। स्टॉक खतम हो जाने का तो मामूली बहाना है। कह दिया—भाई क्या करे, पार्सल आई नही कि हाथो हाथ बिक गई थी, महीनो पहले

लोगों ने कह दिया था, हमको तो बेचना ही है। यदि रजिस्टर भरने की बात हुई तो रजिस्टर की खानापूरी फर्जी नामों से हो जाती है। कागज का पेट भर जाता है। फिर क्या रहा? ऐसी वस्तुओं की खरीद में जब तक दूकानदार को प्रायः यह विश्वास न दिला दे कि आप किसी प्रकार के इन्स-पैक्टर तो नहीं है या खुफिया से तो कोई सम्बन्ध नहीं तब तक आपको पता न चलेगा कि वस्तु है या नहीं। इसलिये बीच के आदमी द्वारा बात करनी होती है।

उपाय—चोर बाजार से अमीर दूकानदारों को तो फायदा होता ही है, अमीर ग्राहकों की भी माँग पूरी होती है। किन्तु गरीब दूकानदार और ग्राहक मारे जाते है। इसका एक उपाय कन्ट्रोल का हटा देना बतलाया जाता है किन्तु आवश्यक वस्तुओ से कन्ट्रोल हटाना खतरे से खाली नहीं है। वस्तुओं के दाम मनमाने बढ सकते है और सम्भव है कि वह वस्तु बाजार में आते-आते लोप हो जाय। किन्तु कन्ट्रोल के हट जाने से आयात बढ जाएगा और विक्रेताओं के बढ जाने से वस्तु सस्ती भी हो सकती है किन्तु इसमे सहसा कदम उठाना ठीक नही। यह बात जरूरी है कि दूकानदारो की सख्या जितनी बढाई जा सके उतनी बढाई जाय जिससे किसी पदार्थ की बिक्री प्रभावशाली लोगो के विशेषाधिकार की वस्तु न रह जाय।

सरकार जितनी कडी निगाह परमिटो के जारी करने पर रखती है उतनी कडी निगाह उनके उपयोग पर भी रक्खे तो बहुत कुछ सुधार हो सकता है। रिशवत जितनी कम होगी उतना ही शीघ्र चोर बाजार का अन्त होगा। बिना अधिकारियो की दर-गुजर के चोर बाजार नही चल सकता। जो लोग अपने को देश के शुभचिन्तक समझते है उनका इस विषय मे विशेष उत्तरदायित्व है। वे अपने प्रभाव को अपने लाभ के लिए काम में न लाएं वरन् गरीबो के लाभ के लिए। काग्रेस के कार्यकर्त्ताओ को चाहिए कि वे वैश्य वृत्ति को छोड़कर ब्राह्मण वृत्ति धारण करे जिससे 'चिराग तले अँधेरा' कहने की नौबत न आय।

नोट—बहुत-सी वस्तुओं पर से कन्ट्रोल हट जाने से ब्लैक व्यापार कुछ कम हो गया है।

[*'व्यापार कानून'*, १९४७]

मनुस्मृति में कर्ज का कानून

श्रुति-स्मृतियाँ—समाज की सुव्यवस्था के लिए प्रत्येक काल में राज्य की ओर से कुछ नियम रहे है। उनके ही अनुकूल राज्य का शासन किया जाता था। ऐसे ग्रन्थ जिनमे ये नियम दिए जाते थे स्मृति या धर्मशास्त्र कहलाते थे। वेदों को श्रुति कहते थे और धर्म शास्त्रो को स्मृतियाँ। स्मृतियाँ वेदो का ही अनुकरण करती थी। महाकवि कालिदास ने वशिष्ठ की गाय नन्दिनी के पीछे जाते हुए महाराज दिलीप (श्री रामचन्द्रजी के पूर्वपुरुष) के सम्बन्ध में उपमा देते हुए कहा है कि वे गाय के पीछे ऐसे ही चलते थे जैसे कि श्रुतियों के पीछे स्मृतियाँ—'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्'। श्रुति और स्मृतियाँ और पुराण मिलकर ही धर्म का आधार बनते है। हम लोगों के यहाँ अट्ठारह स्मृतियाँ मानी गई है किन्तु उनमे मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य का विशेष मान है। मिताक्षर और दायभाग, जिनके अनुकूल उत्तराधिकार का हक निश्चित किया जाता है, याज्ञवल्क्य स्मृति की ही टीकाएँ है।

दृष्टिकोण भेद—मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य मे भी प्रायः राजकीय नियम ऐसे ही थे जैसे कि आजकल है। आजकल के कानून और स्मृतियो के नियमो मे इतना ही अन्तर है कि स्मृतियाँ प्राचीन काल मे लिखी गई थी और उनका दृष्टिकोण धार्मिक था, उनमे सब काम वर्णव्यवस्था के अनुकूल था और लौकिक दण्ड के अतिरिक्त स्वर्ग-नर्क और पुनर्जन्म का भी उल्लेख होता था, किन्तु आजकल के कानून का दृष्टिकोण सर्वथा लौकिक है।

मनुस्मृति का न्यायाधीश—मनुस्मृति बहुत पुरानी है। उसका प्रचार सतयुग से था (कृतेतु मानवो धर्मस्त्रेताया गौतमः स्मृतः)। उसके आठवे अध्याय में मुकद्दमे मामलो के सम्बन्ध मे राजा के कर्त्तव्य बतलाये गए है। इन मुकद्दमे मामलो को मनुस्मृति मे 'व्यवहार' कहा गया है। इनको तय करने के लिए राजा ब्राह्मणो और मन्त्रियो के साथ विनीत भाव से बैठा करता था। इससे मालूम होता है कि उस समय राजतन्त्र (Monarchy) होते हुए भी राजा स्वेच्छाचारी नही होता था। ब्राह्मण इसलिए बैठते थे कि वे ससार से कोई सम्बन्ध नही रखते थे और लोभ-मोह और वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओ से परे होते थे। सब से बडी बात यह है कि राजा उद्धत या मदोन्मत्त होकर नही वरन् विनीत भाव से बैठता था। (हमारे आजकल

के कितने न्यायाधीश विनीत भाव से बैंठते हैं ?) देखिये मनुः अध्याय ८ श्लोक १—

> व्यवहारान् दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ।
> मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत् सभाम् ।।

ये व्यवहार अट्ठारह तरह के माने गये है । उनमे कर्जे का पहला स्थान हे (तेषामाद्यमृणादान)—धरोहर रखना, विना स्वामित्व के अधिकार (Legal title) के किसी वस्तु का वेच देना, साझे का काम, दान की हुई वस्तु को लौटाना, नौकर की तनुख्वाह रोक रखना इत्यादि ।

राजा की अनुपस्थिति में एक ब्राह्म-सभा भी बैठा करती थी जिसमें एक ब्राह्मण राजा का प्रतिनिधि होता था और तीन ब्राह्मण और उसके साथ बैंठते थे । वे सव लोग धर्म के वन्धन में बँधे रहते थे । जिस सभा मे अन्याय होता था उसमे पाप का एक चौथाई हिस्सा अन्याय करने वाले को (चोर आदि को), एक चौथाई हिस्सा झूठे गवाहों को, एक चौथाई हिस्सा मन्त्रियों और सलाहकारों को और शेष चौथाई हिस्सा राजा को लगता था । उस समय शूद्रो को न्याय करने का अधिकार नहीं होता था । वे पढे-लिखे भी नही होते थे । (आजकल ऐसा नही है, फिर भी अन्याय करने वाले और रिश्वत लेनेवाले ब्राह्मण भी शूद्र मनोवृत्ति के समझे जाने चाहिए ।) उस समय न्यायक्रम मे भी वर्णव्यवस्था रहती थी । पहले ब्राह्मणों के मुकद्दमे लिए जाते थे, फिर क्षत्रियों के, फिर वैश्यों के और फिर सवके पीछे शूद्रों के । सम्भव है समाज मे उन लोगों के महत्व और उपयोगिता के कारण ऐसा रक्खा गया हो ।

ध्यान देने की बातें—न्यायाधीश-रूप से बैंठे हुए राजा को सत्य की खोज करनी पडती थी । इसमे उसको धन अर्थात् दावे के न्यायोचित होने की वात, अपनी आत्मा (सदसद्विवेकवुद्धिः जिसको अँग्रेजी मे Conscience कहते है), साक्षियों अर्थात् गवाहो की सत्यता आदि; देश अर्थात् ठहराव (Contract) कहाँ पर हुआ है—जंगल मे या चोरी-छिपके तो, जहाँ कोई गवाह ही न हो सके, नहीं हुआ है अथवा ऐसी जगह तो नही लिखा गया है जहाँ ऋणी कभी गया ही न हो; समय और कागज के रूप अर्थात् वह कानून के अनुसार लिखा गया है, स्पष्ट है या नही आदि वातों का विचार करना पडता था । कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे ऐसे ठहराव जो चोरी-छिपके, जगल में अथवा कमरे के भीतरी हिस्से में अथवा रात मे लिखे गए हों, साधारणतया मान्य न थे ।

नालिश करने पर धनी को अपना कर्ज साबित करना पड़ता था। वह करण (इसका शाब्दिक अर्थ है Instrument, यह Deed या दस्तावेज के अर्थ मे प्रयुक्त होता था) तथा गवाही द्वारा साबित किया जाता था। इसमे वादी (मुद्दई) की स्थिति का भी ध्यान रक्खा जाता था अर्थात् यदि वादी उच्च कुल का और सत्यवादी हो तो उस बात का भी ख्याल किया जाता था। जहाँ गवाही न हो वहाँ कसम भी दिलाई जाती थी, शपथ दिलाने के प्रत्येक जाति के अलग-अलग तरीके थे। ब्राह्मण को सत्य की कसम दिलाई जाती थी; क्षत्रिय को वाहन (सवारी, हाथी-घोड़े आदि) और हथियारो की, वैश्य को गौ, बीज, स्वर्ण आदि की, शूद्र को सब पापो की शपथ दिलाई जाती थी। देखिये मनुः ८। ११३—

सत्येन शापयेद्विप्र क्षत्रिय वाहनायुधैः।
गौबीजकाञ्चनैर्वैश्य शूद्र तु सर्वैस्तुपातकैः॥

अग्नि परीक्षा, पानी मे गोता लगवाने, स्त्री-पुत्र आदि के सर पर हाथ रखवाने की भी प्रथा थी।

मनुस्मृति मे झूठी गवाही देने के दुष्परिणाम भी बताये गए है, जिनके कारण धर्मभीरु गवाह झूठी गवाही देने से डरता होगा। गवाहो का जब विरोध हो तब राजा जिस पक्ष के ज्यादा गवाह हो उस पक्ष को माने। अगर बराबर हो तो गवाही और गवाहो के गुण पर अर्थात् उनके विश्वास होने की बात पर ध्यान दे और गुण भी बराबर हो तो ब्राह्मणो के वचन प्रमाण माने। गवाहों की सख्या पर ही निर्णय नही होता था। लोभ-रहित एक भी गवाह मान्य होता था। स्त्रियो की गवाही स्त्रियो के मामले मे तो मान्य समझी जाती थी किन्तु वैसे नही। स्त्रियो को चचल स्वभाव का माना गया है।

अमान्य करण—वे करण अर्थात् दस्तावेज स्वीकृति योग्य नही समझे जाते थे जिनको किसी शराबी, पागल, रोगी, सेवक, नाबालिग और वृद्ध ने लिखा हो। ऐसे कर्जे मे यदि पिता, भाई आदि की सम्पुष्टि न हो तो वह मान्य न होता था, क्योकि ऐसे लोग अपना भला-बुरा नही समझ सकते है और इन पर बेजा दबाव भी डाला जा सकता है। ठहराव (Contract) के कानून मे ठहराव करने वाले की योग्यता पर बल दिया गया है। ऐसे लोग स्वतन्त्र रूप से कर्जा लेने के योग्य समझे गए थे। धारा ११ मे यह बतलाया गया है कि ठहराव करने वाला बालिग हो और स्वस्थ मन (Sound mind) का हो। जो कर्जा कि सत्य भी साबित हो जाय किन्तु दिया वह शास्त्र और

व्यवहार के विरुद्ध हो तो ग्राह्य न माना जावेगा। इसीलिए जुए के लिए किए हुए कर्ज तथा जुर्माने के शेष के लिए लडका उत्तरदायी नही माना जाता था। ठहराव के कानून (Contract Act) की धारा २३ में लोक नीति के विरुद्ध (immoral and opposed to public policy) ठहरावों को अमान्य कहा गया है। किन्तु जो धन कुटुम्ब की रक्षा के लिए लिया जाता था उसके लिए सारा कुटुम्ब जिम्मेवार होता था। इसी प्रकार गिरवी, क्रय-विक्रय आदि के व्यापार जिनमे छल हो वे मान्य नही होते थे और जिनमे बल का प्रयोग हुआ हो वे भी झूठे और अमान्य समझे जाते थे।

आजकल के कानून मे भी जिन ठहरावो मे धोका (fraud) या बल प्रयोग (coercion) होता है अथवा जो कानून के या लोक नीति के विरुद्ध होते है, मान्य नही होते। स्वतन्त्र रजामन्दी की व्याख्या करते हुए (Contract Act) की धारा १४ मे लिखा है—

"Consent is said to be free when it is not caused by (1) coercion, (2) undue influence, (3) fraud, (4) misrepresentation or mistake."

दावा मान्य न होने की अवस्थाएँ—यद्यपि प्राचीन समय का कानून महाजन के पक्ष मे कुछ अधिक था फिर भी सब प्रकार के दावे नही स्वीकार किए जाते थे और महाजन को झूठे दावे पर दण्ड भी दिया जाता था।

जो वादी (मुद्दई) ऐसे देश मे धन दिया बतावे जहाँ कि उस समय कर्जदार का न होना साबित हो अथवा पहले एक देश बतलाकर पीछे से अस्वीकार करे, या बात को पूर्वापर सगत (शुरू से आखिर तक मेल खाती हुई) न कहे, अथवा बात मे हर-फेर करे—जैसे पहले कहे कि मुझसे लिया है, फिर कहे मेरे बाप से लिया था—अथवा बार-बार पूछे जाने पर भी अपनी बात की पुष्टि न कर सके अथवा एकान्त स्थान मे गवाहो से बातचीत करता दिखाई दे, अथवा प्रश्नो को बचाना चाहे और इधर-उधर की असगत (irrelevant) बातें करने लगे, अथवा अपनी बात को प्रमाणित न कर सके तो उसका दावा स्वीकार न किया जायगा। (मनुस्मृति अध्याय ८ श्लोक ५३-५७)

परिणाम—दावा झूठा होने का परिणाम केवल यही नही होता था कि प्रतिवादी (मुद्दायलह) को हर्जा दिलाया जाय वरन् यह कि जिस अश मे उसका दावा झूठा हो अर्थात् यदि ५००) का हो और ३००) साबित कर सका हो तो राजा वादी पर शेष २००) का दूना ४००) दण्ड के लगाएगा

और इसी प्रकार प्रतिवादी के इन्कार किए हुए धन में से जितना साबित हो जावे उसका दूना दण्ड प्रतिवादी को देना पडता था। इस प्रकार दीवानी मे फौजदारी भी शामिल हो जाती थी। देखिए मनुः अध्याय ८ श्लोक ५९—

यो यावन्निह्नुवीतार्थं मिथ्या यावति वा वदेत्।
तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद्द्विगुणं दमम्॥

कर्जा-वसूली—महाजन का धन साबित हो जाने पर कर्जा-वसूली मे दया कम की जाती थी। उसके लिए धार्मिक उपायों के साथ व्यवहार, छल, लड़के, बच्चे, स्त्री, पशुओ को तग करना और बल का प्रयोग भी मान्य समझा गया था—

धर्मेण व्यवहारेण छलनाचरितेन च।
प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च॥

(मनुः अध्याय ८ श्लोक ४९)

लेकिन सब साधन व्यवहार में नही आते थे। कर्जे की किश्त और रुक्का बदलने आदि की भी प्रथा उन दिनो वर्तमान थी। धनी का काम करने से भी ऋण चुकाया जा सकता था। श्रेष्ठ जाति के ऋणी लोगो के लिए किश्त का चलन था और शूद्रादिको के लिए सेवा करके धन चुकाने की रिवाज थी। स्वजन लोग भी सेवा करके धन चुका सकते थे।

सूद की दर—सूद की दर भिन्न-भिन्न वर्ण के लोगो के लिए भिन्न-भिन्न थी। समाज मे उपयोगिता तथा काम करने की शक्ति के आधार पर यह भेद किया गया था। ब्राह्मण से दो पण सैकडा, क्षत्रिय से तीन पण सैकडा, वैश्य से चार पण सैकडा और शूद्र से पॉच पण सैकडा ब्याज लेने की आज्ञा थी। कोई खुशी से कम ले तो दूसरी बात थी। शूद्रो की गरीबी पर शायद उस समय ध्यान नही दिया जाता था।

द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च शतं समम्।
मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः॥

(मनुः अध्याय ८ श्लोक १४२)

सूद साधारणतया सवा रुपया सैकडा (वशिष्ठ के मत से) और २) सैकडा तक लिया जा सकता था किन्तु मूल और ब्याज एक साथ लिए जाने पर ब्याज मूल की दूनी से ज्यादह कभी नही हो सकती थी। अगर जिनिस, गेहूँ, जौ, चावल, ऊन आदि, दिया जाय तो मूल से पाँच गुना तक लिया जा सकता था। गिरवी रक्खी वस्तु, मकान, खेत आदि का अगर

धनी उपभोग करता था तो ऋणी उसके वदले मे व्याज से मुक्त हो जाता था। जिन वस्तुओं का स्वामी की राजी से उपभोग किया जाता था उन पर चिरकाल तक स्वामी का हक वना रहता था। भोग करने से अगर वस्तु खराव हो जाय तो उसका उत्तरदायित्व धनी पर रहता था। यदि वस्तु के मालिक के सामने कोई उसका उपभोग दस वर्ष तक करता रहे और मालिक उससे कुछ न कहे तो उस पर उपभोग करने वाले का अधिकार हो जाता था। इसको आजकल की कानूनी भाषा मे Adverse Possession या कव्जा मुखालिफाना कहते हैं।

उपसंहार—पुराना कानून चाहे किन्ही वातो में सख्त हो किन्तु हमको उस कानून को आजकल के कानून से मिलाना चाहिए। ऐसा करने पर हमको मालूम होगा कि वे लोग अपने समय के अन्य देशों से उदार थे।

[*'व्यापार कानून'*, १९४७]

मनोवैज्ञानिक

हीनता ग्रन्थि

स्वरूप-विवेचन—यह शब्द नवीन मनोविज्ञान की देन है। आजकल साहित्य और वार्तालाप दोनो मे ही इसका प्रयोग प्रचुर मात्रा मे होने लगा है। इस सिद्धान्त का नाम डाक्टर एडलर से सम्बद्ध है। उन्होने करीब-करीब सबसे पहले इसका सविस्तार शास्त्रीय विवेचन कर मनुष्य के व्यक्तित्व की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की थी। उनका मूल सिद्धान्त यह है कि मनुष्य बालकपन से ही अपने मे कुछ न्यूनताओ, हीनताओ या कमजोरियो, जैसे शारीरिक दुर्बलता, दृष्टिदोष, विकलाङ्गता, पगुता, कुरूपता, अकुलीनता, सामाजिक एव पारिवारिक हीनत्व, अभीष्ट लाड-प्यार के न मिलने आदि का अनुभव करता है और वह उनकी कमी को पूरा करने तथा दूसरों की ओर अपनी निगाह मे अपने को श्रेष्ठ प्रमाणित करने के अर्थ सचेतन या अवचेतन रूप से प्रयास करता रहता है। इसी प्रयास की प्रवृत्ति उसके जीवन का लक्ष्य बनकर उसकी सारी क्रियाओ और भावनाओ को नियन्त्रित करती रहती है। वह अपने को श्रेष्ठ प्रमाणित करने के उद्योग मे नाना प्रकार की कल्पनाएँ, जो कभी-कभी बहुत उच्छृङ्खल भी होती है, करने लगता है। वह अपने को देवोपम नही तो कम से कम एक ऐसा असाधारण वीर और उत्साही पुरुष समझने लगता है जिसकी महत्वाकाक्षाएँ और अभिलाषाएँ समाज की असहृदयता के कारण पूर्णतया फलीभूत नही हो पाती। इस सम्बन्ध मे उसकी कल्पना बडी उर्वरा हो जाती है। ऐसे लोगो की स्वाभिमान की भावना छुईमुई से भी अधिक सवेदनशील और सुकुमार होती है। जरा-सी बात मे वे अपने को अपमानित समझने लगते है।

क्षति-पूर्ति—ये वैयक्तिक न्यूनताएँ कई प्रकार की होती है और उनकी क्षति-पूर्ति के भी अनेक साधन होते है। मनुष्य एक प्रकार की न्यूनता का दूसरी प्रकार की श्रेष्ठता से पल्ला बराबर कर देता है—जैसे अन्धो मे कल्पना-शक्ति बढ जाती है, वे प्राय· सगीतज्ञ हो जाते है और उनकी स्मरण-शक्ति भी असाधारणता प्राप्त कर लेती है। मुसलमानो मे प्रायः नेत्रहीन लोग ही हाफिजजी होते है। होमर, सूर, मिल्टन आदि इसी के उदाहरण है। संगीतज्ञ विथोवियन भी अन्धा था। इग्लिस्तान का कवि बाइरन लगड़ा था, वह अपने लगड़ेपन की हीनता को कुशल तैराक के रूप मे पूरा कर लेता था। उसके लिए नाविको का कहना था कि यह कवि होकर बिगड़ गया, नही तो बड़ा

सुन्दर नाविक बनता। जायसी काना और कुरूप था। उसने अपनी कुरूपता का कविता में सगर्व उल्लेख किया है—

> एक नयन कवि मुहम्मद गुनी। सोई विमोहा जेंहि कवि सुनी॥
> जग सूझा एकैं नयनाहाँ। उआ सूक जस नखतन माहाँ॥
> कीन्ह समुद्र पानि जो खारा। तो प्रति भयउ असूझ अपारा॥

इसमे प्राकृतिक क्षति-पूर्ति का सिद्धान्त निहित है। कबीर जुलाहे थे। उन्हे भी अपने जुलाहेपन की गर्वपूर्ण चेतना थी—'तू काशी का ब्राह्मण, मैं काशी का जुलाहा।' उन्होने इस कमी की पूर्ति हिन्दू मुसलमानो को फटकार कर की है। 'इन दोउन राह न पाई।' उन्होने तो अपने को सुर-मुनि सबसे बड़ा कहा है। भूपण को अपनी भाभी के उपालम्भ से कि 'नही तुमने गाडी भर नमक लाकर रख दिया है' हीनता-भाव की जागृति होकर अपनी प्रतिभा को प्रकाश मे लाने की उत्तेजना मिली थी। उन्होने शिवाजी के दरबार से पहली चीज जो भिजवाई थी वह कई (शायद अट्ठारह) गाडी नमक था। गोस्वामीजी की भक्ति-भावना के मूल मे भी उनकी पत्नी का उपालम्भ काम करता हुआ दिखाई पड़ता है। यदि जनश्रुति ठीक है तो कालिदास की असाधारण प्रतिभा का कारण उनका हीनता-भाव ही है। विज्ञान के क्षेत्र मे भी ऐसे उदाहरणो की कमी नही है। ग्रामोफोन, टेलीफोन आदि का आविष्कर्त्ता एडीसन बचपन मे बहुत कमजोर था। लड़के उसको बहुत तग किया करते थे। उसने अपनी भौतिक दुर्बलता की कमी को मस्तिष्क की सबलता से पूरा कर लिया। पौराणिक साहित्य मे बालक ध्रुव का उपाख्यान इस हीनता-भाव का ज्वलन्त उदाहरण है। विमाता के उपालम्भ से वे भगवान् को भक्ति द्वारा इन्द्र पद के अधिकारी बन गए और ध्रुव तारे के रूप मे दृढ़ता के प्रतीक कहलाने लगे।

विभिन्न मार्ग—नित्य के पारिवारिक जीवन मे हम देखते है कि जिन लडकों को छोटे होने के कारण हुकूमत का अधिकार कम रहता है या किसी प्रकार से माता-पिता का लाड-प्यार कम मिलता है, वे पढने मे तेज निकल जाते हैं। जब यह क्षति-पूर्ति का भाव समाज के साथ समझौता करते हुए उचित साधनों का अवलम्बन करता है तब तो वह व्यक्ति को निर्दोष रूप से उच्च पद पर प्रतिष्ठित कर देता है। इस प्रकार का हीनता-भाव स्वस्थ कहा जा सकता है। किन्तु मनुष्य जब सस्ते साधनों को काम मे लाता है अथवा जल्दबाजी करता है तब वह भावना अस्वस्थ रूप धारण कर मनुष्य मे शारीरिक और मानसिक विकार उत्पन्न कर देती है।

सस्ते साधनों मे जो अधिक प्रचलित है वह यह है कि अपनी कमजोरी को लोगो के सामने न आने दिया जाय अथवा उसको येनकेनप्रकारेण छिपाया जाय, जैसे काने आदमी अथवा विकृत नेत्र वाले रगीन चश्मा लगाए रहते है।

झिझक—यह प्रवृत्ति झिझक का रूप धारण कर लेती है और साधारण लोग झिझक को ही हीनता की ग्रन्थि कहने लगते है। यह भी हीनता-भाव का एक रूप है क्योकि इसमे मनुष्य अपना ऐब छिपाकर ही बड़ा बना रहना चाहता है, किन्तु यह ग्रन्थि का रूप तभी धारण कर लेता है जब व्यवहार कुछ असाधारण हो जाता है, नही तो भावना मात्र (sense) ही रहता है। ऐसे लोग सभा-सोसाइटियो मे नही आना चाहते है, बीमारी का सहज-सुलभ बहाना बना लेते है। अयोग्यता के उद्घाटन होने के भय से व्याख्यान देने के लिये अवकाश का अभाव या गला खराब होना बता देते है। कभी-कभी अपना ऐब छिपाने की अत्यधिक उत्सुकता चोर की दाढी के तिनके की भाँति उनका भेद खोलने मे सहायक होती है। 'नाच न जाने आँगन टेढा' भी हीनता-मनोवृत्ति की परिचायक होती है। किसी को अपनी गरीबी की झिझक होती है तो किसी को अपनी हीन सामाजिक स्थिति की और किसी को अपनी कुरूपता की। जायसी, कबीर आदि ऐसे पुरुष कम होते है जो अपनी झिझक पर विजय पाकर समाज को खुली चुनौती देने को तैयार हो जाते है।

सस्ते साधन—लोग अपनी विद्वत्ता और बुद्धि की कमी को सुन्दर अप-टू-डेट फैशन के कपड़ो से पूरा कर लेते है। एक अङ्गरेजी लेखक ने लिखा है कि बहुत से लोग यदि अपने मस्तिष्क से एक नया विचार नही निकाल सकते है तो उस अवसर पर अपने ट्रङ्क से एक नया सूट तो निकाल ही सकते है और उस पासपोर्ट के आधार पर ऊँची से ऊँची सोसाइटी मे प्रवेश पा जाते है। कम प्रतिभाशाली व्यक्ति प्रायः सुलेखक होते है। वे लोग बढिया ग्लेज्ड कागज, सुव्यक्त हाशिये, लाल स्याही के शीर्षकों और स्वच्छ लेखन-प्रणाली के बल पर साहित्यिको की श्रेणी मे पहुँच जाते है। उनके पास चश्मा, रेशमी कुर्त्ता, दुहरे-तिहरे फाउन्टेनपेन आदि साहित्यिकता के बाहरी उपकरण सर्वाङ्गपूर्णता के साथ वर्तमान रहते है। सुन्दर-वेश-भूषा और वाह्य स्वच्छता कुरूपता को भी किसी अश मे ग्राह्य बना देती है और साथ ही गरीबी पर भी एक अभेद्यप्राय आवरण डाल देती है। ऐसे लोगो को यह लाभ अवश्य होता है कि वे अपने कपडो को स्वच्छ और सुव्यवस्थित रखने की कमखर्च-वालानशीनी कला सीख जाते है। अकुलीनता

को छिपाने के लिये असाधारण धार्मिकता का आश्रय लेकर वहुत से लोग चन्दन-वन्दन, कठी-माला, पीताम्वर या सनिया का परिधान, खड़ाउओं की खट-खट और कान की खूंटी पर अवलम्वमान अथवा कुर्ते के गल-वातायन से झाँकी देते हुए परम पवित्र यज्ञोपवीत आदि उच्चता के प्रमाणपत्रो का समय-कुसमय अयाचित एव अवाछित प्रदर्शन करते रहते है। नैतिक हीनता को छिपाने के लिए कुलीन लोग भी अपनी धार्मिक चादर को कुछ गहरा रग लेते है। नैतिक-हीनता वाले लोग सार्वजनिक चन्दों मे कुछ अधिक मुक्त-हस्त देखे जाते हे। धन और विद्या के अभाव की पूर्ति भी कभी-कभी कुलीनता-जन्य छुआछूत के प्रदर्शन से की जाती है।

शान का प्रदर्शन—शान जतलाने के मूल मे भी प्रायः हीनता-भाव रहता है। वे लोग अपनी कमजोरी के चारो ओर शेखी और डीग का एक ईषत् पारदर्शक परकोटा खड़ा कर लेते है किन्तु वहुत से लोग उसमे आतंक की विजली लगाकर उसको दूसरों की आलोचना-दृष्टि के स्पर्श से सुरक्षित कर लेते है। आतकवान व्यक्ति दूसरे को भयाक्रान्त अवश्य करता है किन्तु वह स्वय भय का शिकार वना रहता है। उनके आलोचक गूँगे के गुड़ के आस्वाद की भाँति नही वरन् कुनीन के आस्वाद की भाँति कटुता का अभिव्यक्तिशून्य अनुभव किया करते है।

खुशामद—हीनता-भाव वाले व्यक्ति प्रायः खुशामद-पसन्द भी होते हैं क्योकि खुशामदी लोग उनको आत्मश्लाघा के दोप से वचा देते हैं और उनकी महत्ता की स्थापना और आत्मभाव की वृद्धि मे सहायक होते है। आत्मभाव को आघात पहुँचाने के कारण आलोचक असह्य हो जाते है। जिनके पास धन-वैभव नही होता और फलतः जो लोग चाटुकार भृङ्गो के कलगुञ्जन से वचित रहते है उन वेचारो को अपने ढोल आप ही पीटने पडते है। जो लोग कुछ करके दिखा देते है उनकी शेखी भी दुधारु गाय की लात की भाँति सह्य हो जाती है किन्तु ढपोरशखो की वडी मट्टी-पलीत होती है।

खट्टे अंगूर—हीनता को छिपाने के लिए कुछ लोग अपनी हीनता को नगण्य समझते हे। यह साधन वहुत वुरा नही है किन्तु वह उन्नति की दिशा की ओर अग्रसर करने वाले मार्ग को अवरुद्ध कर देता है। खट्टे अंगूर की कहानी की निराश लोमडी की भाँति वे कहते है, 'फर्स्ट डिवीजन मे पास कर लेने से क्या होता है भाई, नौकरी के लिए व्यावहारिक ज्ञान चाहिए, सलीका और हाकिमो से रसूक (पहुँच) चाहिए। पढने मे शरीर घुला देने से क्या लाभ ?' यदि विद्या हुई किन्तु वेश-भूषा और कपड़े-लत्ते मे मिलविलापन रहा

तो वे कहने लगते है, 'भाई, ऊपरी टीप-टाप से क्या ? गूदडी मे भी लाल नही छिपते है।' जिनके पास भौतिक बल का अभाव होता है वे शारीरिक बल को पशुबल कहकर उसका तिरस्कार करते हुए कहते है, 'भाई, आध्यात्मिक बल के आगे भौतिक बल पानी भरता है। महात्मा गाधी को ही देख लो, डेढ़ पसली के आदमी थे मगर सारी दुनिया को अँगुली पर नचाए फिरते थे।' यदि कोई काले अक्षर को भैस समझने वाले सिहजी हुए तो गर्व से कहते हे कि 'पढे-लिखे हुए तो क्या लाभ ? एक तमाचा मार दो तो आँखो के सामने अँधेरा छा जाय। ग्लूकोज, फ्रूट साल्ट और इजेक्शनो के बल पर जिन्दा रहना जीते जी मौत है।' यदि आलसी हुए तो कहने लगे कि 'भाई, मै ऐसा बेवकूफ नही हूँ जो बेकार अपने खून को सुखा डालूँ। 'भूखे भजन न होइ गुपाला।' ऐसे लोग तुरन्त ही साम्यवाद की दुहाई देने लग जाते है और अपने को सामाजिक विषमताओ का शिकार बतलाने मे जरा सा भी सकोच नही करते, अपने दोष को छिपाने के लिए दूसरों पर दोषारोपण करना उनके बाये हाथ का खेल है। वे सहृदयता के बीज बोये बिना ही सहानुभूति की फसल लहलहाती देखना चाहते है। यदि उसके दर्शन नही होते तो झल्ला उठते है। दूसरों को नीचा दिखाने और बेईमान कहने मे वे अपनी बहादुरी और ईमानदारी की चरम इतिकर्तव्यता समझते है। यदि कोई देश-सेवक हुए तो लेखकों की हँसी उड़ाने लगते है—'बडे-बडे पोथे लिखने से क्या लाभ ? अभिव्यञ्जनावाद और साधारणीकरण से देश का कल्याण नही होता है।' मुझ जैसे लोग जो जीवन मे व्यवस्था नही ला सकते वे उपदेश देने लगते है कि 'भाई, नियम मनुष्य के लिए हे, मनुष्य नियमो के लिए नही है।' जिसका जोवन नियमों की लोहश्रृङ्खला मे बँधा रहता है उसके लिए कहा जा सकता है—'वृथा गत तस्य नरस्य जीवितम्' वह मनुष्य नही है, मशीन है।

नकटा सम्प्रदाय—हीनता की क्षति-पूर्ति का एक सस्ता साधन यह भी है कि हीनता को ही महत्ता समझा जाय। बहुत से लोग नकटा सम्प्रदाय के नायक की भाँति, जिसकी नाक कट जाने पर उसने लोगो मे यह प्रचार किया था कि नाक कटने पर ईश्वर दिखाई पडता है, अपने दोषो का गुणो के रूप मे प्रचार करते है। शुद्ध न लिखने वाले लोग प्रायः व्याकरण की अवहेलना को ही हिन्दी की उन्नति के लिए आवश्यक बतलाते है। 'भाषा को व्याकरण की बेड़ियो से जकड देने मे उसकी गतिशीलता मारी जाती है।' गोश्त, अण्डे खाने वाले मासाहारी होने मे ही भारत के त्राण का एकमात्र उपाय बतलाते है, और साहित्य मे भी उसका प्रचार करते है। कोई सादा जोवन व्यतीत करने की आड़ में सिलबिल्लेपन का पोषण करते है तो कोई अपनी आवारगी

के समर्थन मे स्वातन्त्र्य-भाव की दुहाई देते हैं। ये रूढ़िवाद के गढ तोड़ने के लिए मध्यकालीन योद्धाओ की भाँति सदा उद्योगशील रहते है।

रोग और विकृतियाँ—अपने को उपेक्षित समझने वाले लोग (विशेषकर देवियाँ) दूसरों की सहानुभूति के केन्द्र वनने के लिए वीमारी का वहाना ही नही करते वरन् वास्तव मे वीमार पड जाते है। उनकी इच्छा वास्तविकता मे परिणत हो जाती है। एक साहव अपनी पत्नी के साथ कलह से वचने के लिये वीमार पड गये थे। उन्नति के अभिलाषी लोगों को उन्नति-मार्ग मे वाधा पडने पर भी कभी-कभी वडी मानसिक विकृतियाँ हो जाती है। अमीर लोग प्रायः मन्दाग्नि के शिकार रहते है, असली वात यह है कि वे मन्दाग्नि के ही कारण अमीर वन जाते है। मन्दाग्नि के कारण उनका स्नेह भोजन से हटकर उसके प्राप्त करने वाले साधन मे केन्द्रित हो जाता है। एडलर ने तो वहुत से लोगो मे दमे की वीमारी को भी हीनता-भाव के कारण कहा है। उन्नतिपथ मे मानसिक दौड की शारीरिक प्रतिक्रिया हाँफने या दमे का रूप ले लेती है। यह सिद्धान्त का अतिशयतापूर्ण समर्थन प्रतीत होता है, किन्तु वहुत सी मानसिक विकृतियो के मूल में हीनता-भाव अवश्य रहता है।

हीनता-भाव वाला दूसरो के प्रति सदा शकित रहता है। उसके कल्पित दुःख वढ जाते है और वह कभी भी समाज के साथ समझौता नही कर सकता है। जो लोग उसकी महत्ता और आत्म-भाव के पोषण मे सहायक नही हो सकते उनके प्रति असहिष्णु वन जाता है। जव दो हीनता-भाव के शिकार तेजस्वी लोग एक दूसरे से टकरा जाते हे तव संघर्ष उत्तरोत्तर वढता जाता है, वे एक दूसरे के तेज को सहन नही कर सकते है—'अधिक अँधेरो जग करे मिलि मावस रवि चन्द।'

निदान और चिकित्सा—किसी रोग को दूर करने का सवसे अच्छा उपाय उसका निदान है। प्रायः लोग अपने हीनता-भाव को पहचान नही पाते, इतना ही नही, वतलाने पर भी स्वीकार नही करते। अधिकांश लोग अपने को पूर्ण समझा करते है। हीनता-भाव सहज मे समझ में भी नही आ सकता। इसके लिए आत्मविश्लेषण की जरूरत है। समाज का दोष तो है ही किन्तु जो लोग उसके साथ समझौता नही कर सकते हे उनको उसका कारण अपने मे भी खोजना चाहिए। कही हीनता-भाव तो काम नही कर रहा है। कारण का जान लेना भी एक प्रकार का इलाज है। रोग के कारण की तुच्छता का ज्ञान उस पर विजय लाभ करने का स्वाभाविक साधन है।

यदि हीनता-भाव को मनुष्य समझने का साहस न कर सके तो उसकी क्षति-पूर्ति का वैध साधनों द्वारा समाज के साथ समझौता करता हुआ उद्योग करे। महत्वाकाक्षा अवश्य रक्खे किन्तु उसे उचित सीमा से बाहर न होने दे और साथ ही अपनी महत्ता के ढोल बजाकर दूसरो पर आक्रमण न करे, रघुवशियों की भॉति, जिनके कार्य फलानुमेय होते थे, फलोदय तक पूर्ण प्रयत्नशील रहे किन्तु उनका ढिडोरा न पीटें और दूसरो की आलोचना से दुखी न हों। प्रभुत्व-कामना और महत्वाकाक्षा उन्नति का मूल है किन्तु उस पर नियन्त्रण रखने की आवश्यकता है। समाज-सेवक को प्रभुत्व-कामना के कीटाणु से हमेशा सचेत रहना चाहिए। जो लोग सेवा-भाव मे प्रभुत्व-कामना को आश्रय देते है वे लोग सेवा के महत्व को घटाते है, फिर भी वे अकर्मण्य लोगों से अच्छे है।

मानवतापूर्ण कर्तव्य—समाज मे दूसरो के हीनता-भाव को दूर करना एक महत्त्वपूर्ण पुण्य का काम है और विशालहृदयता और मानवता का परिचायक है। हीनता-भाव से प्रेरित उन्नति-पथगामी को सहयोग प्रदान करना प्रत्येक सहृदय का कर्तव्य है। दुधारू गाय की भॉति उसकी दो लात भी सह ली जायँ तो बुराई नही, लेकिन उसको मरखनी भी न बनने देने के लिए उस पर प्रेम का शासन वाछनीय है। झिझक वालो की हँसी उडाकर नही वरन् उनको प्रोत्साहन देकर, उनकी बडाई करके हीनता दूर करना एक प्रकार की समाज-सेवा है।

प्रभुत्व-कामना एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। किन्तु वह प्रभुता सहृदयता, गुण, शील-शालीनता और योग्यता की होनी चाहिए, भय और आतक की नही। प्रभुत्व-कामना की स्वाभाविकता स्वीकार करते हुए भी उसका नियन्त्रण आवश्यक है। इसका अन्तर्राष्ट्रीय रूप महाभयङ्कर हो जाता है, इसलिए श्रीमद्भागवत का यह वाक्य सदा स्मरण रखना चाहिए—

'प्रवृत्तिरेषा भूताना निवृत्तिस्तु महाफलः।'

[*'मन की बातें*]

पूर्व-निर्णय

तर्क-शास्त्र के आचार्य हमको यह बतलाते हुए नही थकते है कि सब मनुष्य बौद्धिक प्राणी (Rational) है, किन्तु प्रत्येक मनुष्य के जीवन मे ऐसे अवसर आते हैं जब वह अपने बुद्धि-व्यापार को स्थगित कर अपनी बौद्धिकता का आभास मात्र देता है। प्रायः अधिकाश मनुष्यों के, जो अपने बौद्धिक प्राणी होने पर गर्व करते है, जीवन मे ऐसे अवसर आते है जब वे किसी व्यक्ति या जाति या वर्ग के सम्बन्ध मे बिना विचारे हुए अपने पूर्व-निर्णयों के अनुसार काम करते है, अथवा अपने व्यक्तित्व या सामाजिक व्यापारो मे अध-विश्वासो से नियन्त्रित होते है। वे उस समय अन्ध-विश्वासों को तर्क-सम्मत नही तो अनुभव से पुष्ट अवश्य मानते है। इन पूर्व-निर्णयों में अव्यक्त रूप से आत्म-श्रेष्ठता और दूसरे के प्रति घृणा के भाव रहते है। इसलिए हम उस व्यक्ति से स्वय अलग रह कर अथवा उसे रखकर वचना ही नही चाहते, वरन् उसे समता के व्यवहार का अधिकारी भी नही समझते।

व्युत्पत्ति—अंग्रेजी में एक शब्द है 'प्रेज्यूडिस'। उसको हम कभी-कभी पूर्व-ग्राह भी कहते है, किन्तु पूर्व-निर्णय उसका ठीक शाब्दिक अर्थ हो जाता है। पहले रोमन लोगो मे न्यायालय के निर्णय से पूर्व अभियुक्त की सामाजिक स्थिति की छानबीन की जाती थी, उस समाजिक स्थिति के अनुकूल ही निर्णय दे दिया जाता था। इसी प्रथा से अंग्रेजी के 'प्रेज्यूडिस' शब्द का जन्म हुआ है। हमारे यहाँ भी ब्राह्मण अवध्य माना जाता था। यह उसकी सामाजिक स्थिति के अनुकूल ही निर्णय था।

महत्त्व—इन पूर्व-ग्राहो और पूर्व-निर्णयो का मानव-जीवन मे विशेष महत्त्व है। विरले ही मनुष्य ऐसे होगे जो इन पूर्व-ग्राहो के माया-जाल से बचे होग। हमारे वैयक्तिक और राजनीतिक जीवन के बहुत से सघर्पो के मूल मे यही पूर्व-निर्णय होते है। यह हमारे बुद्धि-व्यापार को स्थगित कर देते हैं। हम अपने पूर्व-निर्णय के प्रतिकूल कोई बात सुनना पसन्द नही करते हैं, सुनते भी है तो हमे वह तर्कशून्य जंचती है। हम अपनी हठधर्मी पर डटे रहते है। हम दूसरे के साथ अन्याय करते हुए भी अपने को सर्वथा निर्दोष समझते है।

मोटे प्रकार—हमारे पूर्व-निर्णय कभी-कभी सीधे व्यक्ति के सम्बन्ध में होते है और कभी वे पूरी जाति या पूरे वर्ग के सम्बन्ध मे होते है और उसी

जाति या वर्ग के नाते व्यक्ति भी हमारे पूर्व-निर्णय का शिकार बनता है। कभी-कभी व्यक्ति के कारण जाति के सम्बन्ध में भी पूर्व-निर्णय बन जाते है। ये पूर्व-निर्णय व्यक्ति के पक्ष मे होते है और विपक्ष मे भी। प्रायः वे विपक्ष मे ही होते है और तब ये द्वेष के निकट आ जाते है। जब पक्ष मे होते है तब पक्षपात कहलाते है। पहले हम व्यक्ति से सम्बन्धित पूर्व-निर्णयों पर विचार करेंगे। जाति-सम्बन्धी पूर्व-निर्णयो की बात समझ लेने से जातीय भेद-भाव की बात भी समझ मे आ जायेगी। हमारे पारस्परिक भेद-भाव किसी न किसी प्रकार के पूर्व-निर्णयो पर आधारित होते है।

व्यक्तिगत—हम किसी व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध मे पहले से ही यह धारणा बना लेते है कि अमुक व्यक्ति अनिष्टकारी है, उससे हित होने की सम्भावना नही। ये व्यक्तिगत पूर्व-निर्णय प्रायः कजूसी आदि-वैयक्तिक कारणों से ही होते है। लोग कजूस का सवेरे मुँह नही देखना चाहते है और न उसका नाम लेते है। ऐसे व्यक्ति अपनी जाति के भी हो सकते है और दूसरी जाति के भी।

अनिष्टकारी व्यक्ति और उसका परिवार—इस प्रकार की द्वेषपूर्ण धारणा के कई कारण होते है। यदि किसी व्यक्ति ने हमारा कभी अनिष्ट किया हो तो हम समझ लेते है कि वह हमारा हमेशा अनिष्ट करेगा। इतना ही नही, ऐसे मनुष्य के लडके-बच्चो और कुटुम्बियों पर भी विश्वास नही रहता है। उदार लोग तो यह तर्क करते है कि मनुष्य-मनुष्य ही है, कभी उसमे कमजोरी आ गई तो कोई आश्चर्य नही, किन्तु मनुष्य का व्यवहार सदा एकसा नही रहता है। पूर्व-धारणा से ग्रसित लोग यह कह सकते है कि वह एक वार तो निश्चित रूप से चूक गया, अब क्या गारटी है कि वह न चूकेगा, अथवा जिसकी सुई पर नीयत डिग गई वह सोने का लालच कब छोडेगा! घर के लोग भी एक से नही होते। बाप-बेटे की प्रकृति मे भी फरक होता है। उदार लोग यह सोचते है कि पिता यदि चोर है तो यह आवश्यक नही कि पुत्र भी चोर हो। सम्भव है, पुत्र ने अच्छी शिक्षा पाई हो और अच्छे वातावरण मे रहा हो। वशानुगतता हमेशा ठीक नही होती है। कीचड़ से कमल उत्पन्न होता है। खारे समुद्र से अमृत और विष दोनो ही निकले थे। अनुदार लोग वशानुगतता मे अधिक विश्वास करते है। लोग प्रायः दोनो हो प्रकृति के होते है, कुछ उदार और कुछ शक्की। उदार लोग पूर्व-ग्राहो के कम शिकार बनते है और शक्की लोग कुछ अधिक मात्रा मे इनसे प्रेरित रहते है।

मतभेद और इच्छाओं के अवरोध से—जो लोग ईमानदारी से भी हमारी इच्छा या मत के विरुद्ध जाते है, हम उनके विरुद्ध सहज में ही पूर्व धारणाएँ बना लेते है। बात यह है कि प्रायः लोग अपने को ईमानदार और सही रास्ते पर समझते है। जो हमसे मतभेद प्रकट करता है, वह हमारे अहं-भाव को आघात पहुँचाता है। हम उसको मिथ्यावादी, प्रमादी और आडम्बरी समझने लगते है। अपने मार्ग से भिन्न मार्ग पर चलने वाले को पथभ्रष्ट समझना स्वाभाविक ही हो जाता है। उससे किसी अच्छी बात की आशा करना दुराशा मात्र हो जाती है। एक पक्ष का सारा व्यवहार दूसरे पक्ष के मतभेद से दूषितरूपेण प्रभावित हो जाता है। ऐसे लोग अपनी अहमन्यता मे यह भूल जाते है कि ईमानदारी का भी मतभेद हो सकता है और किसी का अपने से मतभेद प्रकट करना अपनी अवमानता नही। मतभेद के भी कई कारण हो सकते है।

ईर्ष्या या वैर—कभी-कभी ईर्ष्या या वैर भी हमारे पूर्व-ग्राहों का कारण बन जाता है। प्रेम की भाँति वैर भी अन्धा होता है। प्रेम हमको प्रेम-पात्र के अवगुणो की ओर से अन्धा कर देता है और वैर गुणो की ओर से। यह आवश्यक नही कि जिससे हमारी ईर्ष्या हो या जिसके प्रति हमारा वैर हो, वह भी हमसे ईर्ष्या या वैर रखे, किन्तु हम ऐसे व्यक्ति की ईमानदारी में शक करने लग जाते है।

आकृति का आधार—बाह्य आकृति भी इस प्रकार के पूर्व-ग्राहो में थोडा-बहुत कारण या कारणाभास होती है। कुछ लोगो की आकृति मे ही ऐसी क्रूरता या भयंकरता होती है कि उनकी अनिष्टकारिता के सम्बन्ध मे हमारी हठपूर्ण धारणा बन जाती है। आकृति के साथ वेश-भूषा भी लगी रहती है। आकृति के सम्बन्ध मे एक प्रकार की सहज-बुद्धि सी काम करती मालूम होती है। व्यक्ति को हम देखते ही निर्णय कर लेते है कि यह अनिष्ट-कारी है और इससे हमारा काम न चलेगा। गुणो के सम्बन्ध मे तो प्रसिद्ध ही है—'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' अर्थात् जहाँ सुन्दर आकृति होती है वहाँ गुणो का वास होता है। यह बात स्वय ही सदिग्ध है। इसका उलटा है 'यत्रांगानां विकृतिस्तत्रावगुणाः वसन्ति।' एकाक्षी लोगो को तो 'क्वचित् काणाः भवेत् साधु.' के आधार पर शका की दृष्टि से देखते है। बेचारे शुक्रा-चार्य तो यजमानहिताय अपनी विकृति करा बैठे (वामनावतार की छलपूर्ण याचना मे बलि की रक्षा के लिए सकल्प के अर्घ जल डालने वाले टोंटीदार गड़ुए मे बैठ गए थे कि सकल्प का जल ही न गिरे; यजमान ने टोंटी को

साफ करने के लिए उसमे कुश डालकर गुरुदेव की आँख फोड दी) किन्तु उनके वर्ग के सब अभिशप्त से हो गए। बेचारे कानो को नौकरी कठिनाई से ही मिलती है। चतुर मन्थरा ने तो अपनी सफाई मे पहले से ही कह दिया था कि काने-खोटे-कूबरे लोगों को सब शका की दृष्टि से देखते है।

जातिगत पूर्व-निर्णय—हमारे बहुत से पूर्व-निर्णय व्यक्ति से सम्बन्ध न रखकर एक प्रकार के वर्ग या जाति के लोगो से सम्बन्धित होते है। वे व्यक्ति के नजी नैतिक दोष के कारण नही होते, वरन् इसलिए कि वह अमुक जाति, वर्ग, रग या आकार-प्रकार का होता है। इस प्रकार के पूर्व-निर्णय बँधे-बँधाए ढाँचों पर, जिनको अँग्रेजी मे 'स्टीरियोटाइप' कहते है, निर्भर होते है। वहाँ पर व्यक्ति की अपेक्षा उस साँचे या ढाँचे को अधिक महत्त्व दिया जाता है। हब्शी जाति का मनुष्य 'निगर' पहले कहलाएगा, मिस्टर टॉमस जॉन्सन पीछे। मिस्टर टॉमस चाहे जितने धनवान् सुसस्कृत हो, हमारे व्यवहार मे उस ढाँचे का रूप पहले आ जायगा। ऊपरी व्यवहार चाहे जैसा हो, मन मे तो एक खिचाव पैदा हो हो जायगा। इटली वाला एन्टोनियो मेजिनी पीछे कहलाता है, पहले वह 'डागो' नाम से अभिहित होता है। इसी प्रकार लोग अँग्रेजो को जॉन बुल कहते है। अपने यहाँ अकारण ही नापित को धूर्त कहा गया है, 'नराणा नापितो धूर्तः पक्षिणाञ्चवायसः' हिन्दी मे नाई को छत्तीसा कहकर सम्बोधित करते है।

सामाजिक दूरी—ऊपर वर्णन किए गए खिचाव को 'सोशेल डिस्टेस' या सामाजिक दूरी कहते है। हम लोग किसी अश मे दूसरे धर्म या जाति के लोगो से घुल-मिल जाते है और बहुत अश मे उनके निकट आ जाते है, किन्तु जहाँ तक क्लबो, होटलो, गोष्ठियों, मजलिसो, सहभोजो, हँसी-मजाक, कह-कहेवाजी तथा जातीय सभाओ का प्रश्न आता है वहाँ 'वय वय' और 'यूय यूय', अर्थात् हम हम है और तुम तुम हो की भावना आ जाती है और सामाजिक दूरी प्रकाश मे आने लगती है। यह सामाजिक दूरी गोरे, काले, ईसाई, यहूदी, हिन्दू, मुसलमान, अवर्ण-सवर्ण और सवर्ण मे भी भिन्न-भिन्न वर्ण के लोगो मे दिखाई पडती है। कभी-कभी भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोगो मे भी इस दूरी का आभास मिलता है।

संवेदनशीलता में भेद—इन पूर्व-निर्णयो के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न देशवासियो की संवेदनशीलता पृथक्-पृथक् होती है। श्री किम्वालयग ने अपनी 'ए हैडबुक ऑव सोशेल साइकोलॉजी' मे वतलाया है कि फ्रास के इकत्तीस होटलो मे पूछा गया कि क्या वे अश्वेत लोगो को अपने यहाँ रखना

पसन्द करेंगे तो इकत्तीस में चौबीस का उत्तर स्वीकारात्मक था, इसके विप-रीत इंग्लिस्तान के बीस होटलो में से केवल चार का स्वीकारात्मक रहा। भिन्न-भिन्न स्थितियो मे भिन्न-भिन्न जाति के लोगों के सम्बन्ध मे पसन्द का अनुपात अलग-अलग होता है। उसी पुस्तक में एक गणना-चक्र दिया गया है, जिसमे सत्रह सौ पचीस अमरीकियो के प्रश्नो के उत्तर के अनुपात पर यह बतलाया गया है कि जहाँ वे अंग्रेज जाति मे सौ मे चौरानवे से सम्बन्ध करने को तैयार है, वहाँ हिन्दुओं मे सौ मे से एक के साथ विवाह-सम्बन्ध करने को होगें। इनके क्लब अंग्रेजो को सौ मे से सत्तानवे को दाखिल करने योग्य प्रस्तुत समझते है तो हिन्दुओ मे से सात को। ये हिन्दुओ मे सौ मे से इक्कीस को अपने साथ काम-काज में साझी बना सकते है।

पूर्व-निर्णयों के आधार—इस प्रकार के पूर्व-निर्णयों के आधार होते है—रग, गध, जाति, धर्म, वर्ग, राजनीतिक दल आदि; यहूदी-ईसाई, यहूदी-अरब, अमरीकी-नीग्रो, पूँजोपति-मजदूर, जमीदार-किसान, अवर्ण-सवर्ण, इत्यादि। एक उदाहरण से मेरा कथन स्पष्ट हो जायगा। वर्टमवर्ग के किसी शहर की कौसिल ने किसी यहूदी डाक्टर को उसकी योग्यता के कारण कुछ विशेष सुविधाएँ दे दी। वहाँ के पादरीवर्ग ने नाराजगी प्रकट करते हुए कहा—'एक यहूदी के हाथ से बचने की अपेक्षा ईसामसीह के हाथ मरना अच्छा है।' हमारे यहाँ भी एक मसला है—'भगी के भारे लड़का अच्छा होय उससे मरा भला।' किन्तु हमारे देश मे स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे ऐसे पूर्व-निर्णय कम व्यवहार मे आते है। गर्ज बावली होती है। फिर भी जाति, धर्म, रग आदि के सम्बन्ध मे ऐसे पूर्व-निर्णय बड़े ही सबल होते है।

रंग का आधार—रंग का आधार यूरोप और अमरीका मे बहुत अधिक है। जहाँ उनको ईसाई धर्म विश्व-भ्रातृत्व का पाठ पढाता है वहाँ रग के आधार पर मनुष्य मनुष्य मे भेद किया जाता है। यह भेद अमरीका के गोरो और नीग्रो लोगो मे कुछ अधिक है। यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से उत्तरी अम-रीका की अपेक्षा दक्षिणी मे यह समस्या कुछ कठिन है, फिर भी उत्तरी अमरीका मे भी रग की रेखा पर्याप्त रूप से उग्र है। दक्षिण अफ्रीका में गोरे और हिन्दुस्तानी तथा अफ्रीका के मूल निवासियों का सघर्ष काफी उग्र है। रंग-भेद के आधार पर रेलों, होटलों, स्कूलों मे पार्थक्य दिखाई देता है। महात्मा गाधी को भी इस रग-भेद के खिलाफ सघर्ष करना पडा था। दक्षिण अफ्रीका मे लिंचिग अर्थात् ढेले मार-मारकर नीग्रो को मार देने की प्रथा अब भी अवशिष्ट है। उसमे प्रायः नीग्रो लोगों का गोरी स्त्रियों से अनुचित सम्बन्ध

कारण बन जाता है। वास्तविक के अतिरिक्त काल्पनिक आशंकाएँ इन हत्याओ मे साधक होती है। गोरी जाति के लोगो के लिए ऐसे अनुचित आक्रमणो के प्रतिकूल कोई दंड नही, क्योंकि जिसकी लाठी उसकी भैस। शक्ति और कानून गोरो के हाथ में है। लिंचिग एक प्रकार के शक्तिशालियो का इकतरफा युद्ध है। कुछ मनोवैज्ञानिको का कथन है कि गोरी स्त्रियो का कालों के प्रति अनुचित आकर्षण ही व्यापक बन रग-भेद का आधार बना है। इस कथन को परिमार्जित और सशोधित रूप मे ही स्वीकार किया जा सकता है। रग-भेद के आर्थिक कारण भी है। अँग्रेजो के प्रभुत्व-काल मे हिन्दुस्तानी लोग उनसे घुल-मिल तो गए थे, किन्तु ऊपर बतलाई हुई सामाजिक दूरी अवश्य रहती थी। ऐसे लोगो की दूसरी बात है जो कई बार विलायत हो आए है, शक्ति और प्रभावशाली है, रग मे साफ है, अनिन्दित, दोष-रहित अँग्रेजी शुद्ध उच्चारण के साथ बोलते है और देशी कपडो मे भी छुरी-काँटे के व्यवहार मे दक्षता दिखाते है, जैसे नेहरूजी। स्वतन्त्रता के बाद से यह सामाजिक दूरी बहुत मात्रा मे कम हो गई है।

गंध-भेद—यह भेद कुछ घृणा और पार्थक्य का कारण वन जाता है। हम जो कहानियो मे मानस-गध की बात सुनते है वह किसी अश मे ठीक है। इसका भेद दानवों और मनुष्यो मे ही नही था, वरन् आजकल भी जाति-जाति के मनुष्यो मे विशेषकर मासाहारी और अमासाहारियो मे इसका अन्तर रहता है। महाभारत मे मत्स्यगधा का वृत्तान्त पढा ही होगा। पद्मिनी नायिकाओं की बात भी नितान्त कल्पित नही है। मास खानेवाले तथाकथित उच्च गोरी जाति के लोगो की गध से कई वार होटलो मे भोजन परोसनेवाली अश्वेत परिचारिकाएँ बेहोश होते देखी गई है। ऐसे गध-भेद मे सामाजिक दूरो का रहना आश्चर्यजनक नही। किन्तु आधुनिक क्रीम, पाउडर आदि सभ्यता के उपकरणो से यह गध-भेद बहुत कम हो गया है। पहले भी अगराग लगाया जाता था। बहुत से उदार-वृत्ति, सेवा-परायण लोग इस गध-भेद से विचलित नही होते है। बदन की सुगन्ध भी सदा भद्रता की निशानी नही होती है। परिचित गध मेल और प्रेम का भी कारण बनती है, अपरिचित गध द्वेष और पार्थक्य का।

धर्म-भेद—पूर्व निर्णयो के कारणो मे धर्म-भेद का प्रमुख स्थान है। हम अपनी धर्मान्धता मे दूसरे धर्मवालो को कुछ-कुछ शका और अविश्वास की दृष्टि से देखते है। यह नियम व्यापक नही है। उदार-चरित्र लोगो के लिए धर्म-भेद, जाति-भेद या रंग-भेद कोई अर्थ नही रखता, किन्तु असदादिक

इस धरती के साधारण पुरुषों में यह भेद-भाव समय के अनुकूल घटती-बढती मात्रा में अवश्य रहता है। यूरोपीय देशों में यहूदी और ईसाई का धर्म-भेद और जाति-भेद भी रहा है। वैसे बाइबिल के पुराने अहदनामे में यहूदी और ईसाई दोनों विश्वास करते है, किन्तु यहूदी लोगो ने ईसामसीह को खुदा का बेटा नही स्वीकार किया और उसको धोखेबाज और नकली कहकर सूली पर चढ़वाया। यहूदी लोग भी अपने को ईश्वर के चुने हुए विशिष्ट जन समझते हैं और अन्य लोगो को वे 'जेन्टाइल' के नाम से पुकारते हे। यहूदी और ईसाई का झगडा हमको शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट ऑव वेनिस' में पढ़ने को मिलता है। मुसलमान लोग हजरत ईसा को मानते है केवल एक नबी के रूप में, किन्तु हजरत मुहम्मद साहब को वे आखिरी और सब नबियों में श्रेष्ठ नबी मानते है।

हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक वैमनस्य और अविश्वास का हम सबको दुःखद अनुभव है। पाकिस्तान उसका मूर्त्तिमान प्रमाण है। इसमें कौन अधिक दोषी है यह कहना पक्षपात होगा, किन्तु यह अखबारों से प्रकट है कि पाकिस्तान अपनी सभी आपत्तियों और कठिनाइयों का एकमात्र कारण हिन्दुस्तान की दूषित मनोवृत्ति और द्वेषपूर्ण प्रचार बतलाता है। यह स्वीकार करना पडेगा कि महात्मा गाधी, हकीम अजमलखाँ, खान अब्दुल गफ्फारखाँ आदि ने तथा मध्यकाल मे कबीर, जायसी, रहीम आदि ने इस भेद-भाव को मिटाने मे सराहनीय कार्य किया था। कांग्रेस सरकार ने इस भेद-भाव को दूर करने मे सहायता दी है। विश्वास विश्वास उत्पन्न करता है यह बहुत अश मे ठीक है। धर्म-भेद तो घातक विष है ही, किन्तु एक धर्म के भीतर सम्प्रदाय-भेद भी कुछ कम सिरदर्द नही है—शिया और सुन्नियों का, प्रोटेस्टेन्ट और रोमन कैथोलिकों का, शैवो और वैष्णवो का, आर्यसमाजियों और सनातन-धर्मियो का—यद्यपि राष्ट्रीयता और धर्म के प्रति अपेक्षाकृत उदासीनता ने इस भेद को बहुत अश मे कम कर दिया है। जैन और अजैन भी काफी घुल-मिल गए हे। इनका पारस्परिक शादी-विवाह भी कारण है। शैवों-वैष्णवों का सघर्ष इतिहास की वस्तु हो गई। गोस्वामी तुलसीदास आदि महात्माओ ने इनके पारस्परिक विरोध को कम करने मे स्मरणीय कार्य किया।

यह धर्म-भेद, जैसे हिन्दू-मुसलमानो का, रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्टो का, राष्ट्रीयता मे बाधक होता है। कुछ कैथोलिकों को यह भी शिकायत है कि सयुक्त राज्य का राष्ट्रपति प्रोटेस्टेन्ट ही क्यों हो? पिछली

लडाई के समय रोमन कैथोलिक पादरी लोग शका की दृष्टि से देखे जाते थे, क्योकि उनके सम्बन्ध मे यह समझा जाता था कि इनकी सहानुभूति इटली के साथ है। यहूदी-ईसाइयो का भी सघर्ष बहुत-कुछ राजनीतिक ही हो गया था।

वर्ण-भेद—जाति-भेद का ही लघु सस्करण वर्ण-भेद है। यह भारतवर्ष की विशेष देन है। इसमे देश को लाभ भी हुआ है और हानि भी। लाभ तो यह कि व्यापार और पेशे वशगत हो गए और उनमे परम्परा द्वारा उत्तरोत्तर परिमार्जन के कारण दक्षता आ गई। इसके अतिरिक्त जाति या उपजाति के भीतर कौटुम्बिक समानता का भाव आ जाता है। जात्याभिमान ने धर्म परिवर्तन से भी बहुत अशों मे जनता को बचाए रखा। यह विभाजन पहले तो समाज में कार्य-विभाजन के लिये गुण-कर्मो के आधार पर बना था, फिर उसने रूढ होकर नितान्त पार्थक्यपूर्ण कबूतरखाने का रूप धारण कर लिया और भेद-प्रभेद इतने बढ गए कि ब्राह्मण वेशधारी मुसलमान को आश्चर्य चकित होकर कहना पडा था—'या अल्ला! गौडो मे भी और!' जाति के पहले उपजाति को महत्ता दी जाती है, किन्तु व्यापक हितो और सकट के समय मे उपजाति तो क्या एक धर्म के भीतर के सम्प्रदायों मे भी मत-भेद थोड़ी-बहुत सामाजिक दूरी को स्थिर रखते हुए मिट जाता है।

पूर्व-निर्णय-सूचक कहावतें—यह आवश्यक नही है कि यह वर्ण-भेद विरुद्ध पूर्व-ग्राहो को उत्पन्न कर ही दे, किन्तु शकाशील मनुष्यो मे ये पूर्व-ग्राह जल्दी स्थान पा जाते है। 'जरायम पेशा' लोग, अन्त्यज और स्पृश्य नौकर-चाकर भी चोरी आदि के सम्बन्ध मे शका क्या निश्चित धारणा के विषय बन जाते है। यदि कोई नीच जाति का मनुष्य कोई अपराध कर बैठे तो उस अपराध का कारण उसकी जाति मानी जाती है न कि व्यापक मानवीय कमजोरियाँ। वे लोग भूल जाते हे कि उससे बढकर पाप उच्च जाति वाले करते है। कुछ जातियाँ तो क्या प्रायः सभी जाति वाले एक-दूसरी जाति के लोगो के सम्बन्ध मे किवदन्तियाँ और कहावतें प्रसिद्ध कर रखते हैं जो उनके सम्बन्ध मे पूर्व-निर्णयों की परिचायक होती है। किसी जाति के लोगों को ऐसी कहावतें बुरी न लगे, इसलिए उनके देने का मोह सवरण करना पडेगा। केवल बनियो के सम्बन्ध की कहावत का उल्लेख कर दूँगा, क्योकि मुझे स्वय उस जाति में होने का गर्व है—'जिसका बनिया यार उसको दुश्मन क्या दरकार।' किन्तु औरो के विपरीत इसका अर्थ मैं इस प्रकार लगाता हूँ—बनिए लोग इतने सौम्य और शान्तिशील होते है कि यदि कोई उनसे मित्रता

करके उनकी नीति पर चले तो वह अजातशत्रु बन जाय। आचार्य शेखर ने कवियो के साथ बनियों को भी लपेटे में लेकर कह दिया—'क्वचित् वणिक-जनोऽचौरः'। शायद उन्होने दिव्य दृष्टि से ब्लैक मार्केट करने वालो को देख लिया हो। मैं कवि नही तो लेखक अवश्य हूँ, किन्तु कवि के नाते सुवर्ण की चोरी मैं भी करता हूँ। उसका आकार-प्रकार बदलने की कला मे मैं दक्ष हो गया हूँ। सस्कृत वालों तथा हिन्दी वालो ने बेचारे नापितों को बदनाम कर रखा है। ऐसी कहावते अनुचित सामान्यीकरण पर आधारित होती है। और जातियों के सम्बन्ध मे भी ऐसी कहावतें और श्लोक है। कुछ ऋषियों के कारण, जैसे भृगु, दुर्वासा और परशुराम के कारण, ब्राह्मण क्रोध के अवतार कह दिए जाते है। कुछ पेशेवर भी बहुत बदनाम हो जाते है। पहले वे चोर समझे जाते है। पीछे वे भले आदमी प्रमाणित हो जायँ तो उनके पूर्व-जन्म के सुकृतो को सराहना चाहिए।

वर्गगत पूर्व-निर्णय—एक आर्थिक वर्ग दूसरे वर्ग के लोगो को शंका की दृष्टि से देखता है। जमीदार किसान को नादहन्द समझता है और किसान जमीदार को शोषक। इसी प्रकार पूँजीपति-मजदूर का मानसिक खिचाव रहता है। किरायेदार मकान-मालिको के प्रति और लेखकगण प्रकाशको के सम्बन्ध मे शकाशील रहते हें। मालिक लोग प्रायः अपने नौकरो को आलसी, कामचोर और बेईमान समझते हे। पूर्व-निवासी और विस्थापितो मे भी कुछ-कुछ ऐसा ही सघर्ष रहता है और इस सघर्ष के मूल कारण होते है एक-दूसरे के सम्बन्ध मे किए हुए पूर्व-निर्णय।

राजनीतिक दलगत पूर्व-निर्णय—एक राजनीतिक दल दूसरे राज-नीतिक दल पर विश्वास नही करता है और दूसरे दल के उद्देश्यों और कार्यो को शका की दृष्टि से देखता है। काग्रेस वाले हिन्दू महासभा के प्रत्येक कार्य मे साम्प्रदायिकता की गध पाते हे और हिन्दू महासभा के लोग काग्रेस सरकार के कार्यो मे हिन्दू-द्रोह ही नही, वरन् राष्ट्र-द्रोह का आरोप करते है। वे लोग देश मे भुखमरी और बेकारी के लिए कांग्रेस सरकार की अदूर-दर्शिता को उत्तरदायी ठहराते है। यह ठीक है कि काग्रेस वाले दिव्य दृष्टि नहीं रखते, किन्तु इन बातो के प्राकृतिक कारण भी हो सकते है। उनके आलोक मे दूसरे दल वाले सरकार के दोपो का किसी मात्रा मे परिमार्जन नहीं करते। काग्रेस सरकार देश के समस्त आन्दोलनो की जड़ मे साम्यवादी प्रचार देखती है। साम्यवादी लोग सरकार को पूँजीपतियों के हाथ की कठपुतली घोपित करते है और सरकार के प्रत्येक कार्य को पूँजीपतिहिताय

निर्धारित मानते हैं। ये ही पूर्व-निर्णय एक दल को दूसरे दल के निकट आने में बाधक होते है।

प्रश्न उठता है कि जातीय एव रग और धर्म-सम्बन्धी पूर्व-निर्णय मनुष्य मे सहज जन्मगत है अथवा अर्जित। अधिकाश मनोवैज्ञानिको का यह मत है कि ये पूर्व-ग्राह जन्मजात नही है। एक जाति के बच्चे दूसरी जाति या धर्म के बच्चो के साथ सुखपूर्वक खेलते है जब तक कि उनके माता-पिता या गुरुजन सास्कृतिक या धार्मिक पक्ष लेकर कुछ मनगढन्त दूसरी जाति के लोगो के सम्बन्ध मे बतलाकर उनका मन भयाक्रान्त या अन्य प्रकार से दूषित नही कर देते। नीग्रो जाति के नौकर गोरे बालकों को खिलाते हैं। भारतीय आयाएँ अँग्रेज बालकों को खिलाती थीं और अँग्रेज बालक उनसे घृणा करने के बजाय प्रेम करते थे। रंग और गंध का विकर्षण कुछ दिनों के सहवास से कम हो जाता है, यदि कोई दन्तकथाएँ बाधक न हों। बच्चे अपनी जाति और रग वालों से भी कभी-कभी भयानक आकृति या वेशभूषा के कारण डर जाते है। रग, गध, वेशभूषा आदि के प्रति किसी अश में स्वाभाविक विकर्षण हो सकता है, क्योंकि ऐसा विकर्षण जानवरो मे भी देखा जाता है। इसमें घृणा का भाव तो कम रहता है, किन्तु असाधारण से अपरिचयजन्य विकर्षण और खिचाव का भाव रहता है। एकसे रग और गध किन्तु भिन्न धर्म वालों के प्रति कोई स्वाभाविक विकर्षण, घृणा या द्रोह का भाव नही रहता। बच्चे मुसलमान की दाढी से चाहे विचलित हो जायँ, किन्तु वे किसी अपरिचित राजपूत की दाढी से भी विकर्षित हो जायँगे। इसका कारण यह है कि माताएँ जो 'हौवा' व देव-दानवों की कथाओ के संस्कार बालकों के कोमल मस्तिष्क पर अकित कर देती है, उनके आलोक मे वे विचित्र आकृति या वेशभूषा वाले लोगो का उनसे तादात्म्य कर लेते है।

घृणाकी आधारभूत कुछ दन्तकथाएँ—ये दन्तकथाएँ अधिकाश मे तो कल्पना-प्रसूत होती है और कुछ आशिक सत्य पर आधारित। अँग्रेज लोग हिन्दुस्तानियो से वर्ण-भेद के कारण तो घृणा करते ही थे, किन्तु कभी-कभी तो ऐसा भी कहते सुने जाते थे कि हिन्दुस्तानी लोग साबुन से अथवा टब में नही नहाते। वास्तविक बात यह है कि हिन्दुस्तानी लोग अँग्रेजो की भाँति टब मे नहाना घृणित कार्य समझते है। अँग्रेजो मे कुछ ऐसी भी प्रचलित दन्तकथाएँ थी, खासकर विलायत और अमरीका मे, कि हिन्दुस्तान साँपों से भरा है। एक मेरे परिचित अँग्रेज युवक लेखक ने मुझे अपने गले मे लटका हुआ ताबीज सा दिखाया था जिसमे चाकू का एक छोटा-सा फल था और

थोडा परमेंगनेट पोटाश । यह उसकी माँ ने हिन्दुस्तान आने से पूर्व उसे दिया था जिससे तावीज की डोरी साँप काटने पर कसकर बध लगाने के काम आ जाय और चाकू के फल से वह नश्तर लगाकर पुटाश भर ले । वह प्राय. आठ मास हिन्दुस्तान मे ठहरा, पर उसे उसके व्यवहार का अवसर नहीं मिला। कुछ अंग्रेज हिन्दुस्तान को धोखेबाजों और झूठो का देश समझते थे और कुछ रस्सी ऊपर फेंक कर उसपर चढ जाने वाले जादूगरों का देश। कुछ अमरीकी प्रचारक भोले-भाले धार्मिक अमरीकियो के मन में यह धारणा उत्पन्न कर देते थे कि भारत अर्द्धनग्न भिखमगों, अशिक्षितो और अन्धविश्वासी लोगों का देश है जो अपने बच्चो और बूढे लोगो को जीवित गगाजी मे डुबो देते है। ऐसे भ्रामक प्रचार से चाहे उच्चता-भाव-प्रेरित करुणा बढती थी, किन्तु वह समता-भाव की सामाजिकता मे बाधक होती थी। इससे बढकर उनको भारतीय सस्कृति के सम्बन्ध में ज्ञान न था। मेरे एक भारतीय थियोसोफिस्ट मित्र कहते थे कि एक आस्ट्रेलियन युवती उनसे हिन्दुस्तानी मे कहती थी—'भाई, आप लोग बडे सभ्य और शिष्टभाषी है। मैंने तो अपने देश में सुन रखा था कि हिन्दुस्तानी लोग बडे रक्त-पिपासु होते है, उनके बीच मे होशियारी से रहना।' सम्भव है, इन दन्तकथाओं मे भी एकागीपन हो किन्तु ऐसी बाते कुछ मनुष्यो से सुनी अवश्य गई है।

गोरे अमरीकियो और हब्शियो या रेड-इडियनों मे अथवा दक्षिणी अफ्रीकी और एशियाई लोगो मे जो पार्थक्य की नीति चल रही है, उसके मूल मे गोरों की श्रेष्ठता और कालों की हीनता के अतिरिक्त यह आर्थिक और राजनीतिक भय भी है कि कही ये लोग राजनीतिक समानता का अधिकार पाकर परिश्रमशीलता के कारण गोरों को वहाँ से हटा न दें। गोरों की साम्राज्यलिप्सा 'श्वेत जातियो के नैतिक भार' (व्हाइटमैन्स बर्डन) का रूप धारण कर लेती है। वे समझने लगते है कि उनका जन्म कालों के उद्धार और उन्हे नैतिक शिक्षा देने के लिए हुआ है। यह भी एक प्रकार की दन्तकथा है। हिटलर दुनियाँ को अपने शासन मे लाकर उसका उद्धार करना चाहता था और उसे यहूदियो से विशेष द्रोह था। विश्व-विख्यात वैज्ञानिक आइन्स्टीन को जर्मनी छोड़नी पड़ी थी। यहूदियो के सम्बन्ध मे यूरोपवालो को यह अन्धविश्वास सा था कि इन लोगों के पास धनवान् होने के कारण बैंक की तालियाँ है, और ये ही लोग विश्व मे लड़ाइयाँ कराते है।

युद्ध के समय मे जातियो के विरुद्ध लोकमत बनाने के लिए बहुत कुछ प्रचार (प्रोपेगेंडा) का सहारा लिया जाता है। पिछले युद्ध में ब्रिटिश सर-

कार ने जापानियों के विरुद्ध बहुत प्रोपेगेंडा किया था। उनको नृशंस और क्रूर रूप मे दिखाया गया था। ऐसी ही प्रचारात्मक दन्तकथाएँ पूर्व-निर्णय करने मे सहायक होती है।

पूर्व-निर्णयों के मानसिक कारण—पूर्व-निर्णयो का प्रथम कारण यह है कि जात्याभिमान, धर्मान्धता तथा स्वार्थ-परायणता के कारण प्रायः लोग विपक्ष की बातो को नही देखते और थोड़ी देर के लिए अपनी वौद्धिकता को तिलाजलि दे देते है। दूसरा कारण दूषित सामान्यीकरण का है। यदि किसी एक जाति के आदमी ने चोरी की तो सारी जाति वदनाम ठहराई जाती है। तीसरा कारण यह कि दूध का जला छाछ को फूँक-फूँककर पीता है। एक बार धोखा खाया तो सदा के लिए सचेत हो जाना पड़ता है। आत्मश्रेष्ठता और आत्महीनता दोनो भाव अनुचित आशका के कारण बनते हैं। हम अपनी श्रेष्ठता की भावना से दूसरो की नैतिक हीनता की सहज मे कल्पना कर लेते है और हीनता-भाव भी आश्रय की श्रेष्ठता दिखाने के लिए दूसरे मे कोई न कोई न्यूनता देखने को प्रवृत्त कर देता है। अन्तिम महत्त्व का कारण है अनुचित आत्मरक्षा का भाव। कही जाति के आर्थिक हितो पर आक्रमण दिखाई पडता है, जैसे दक्षिणी अफ्रीका के गोरो को, और कही धर्म खतरे मे दिखाई देता है। प्रचलित दन्तकथाएँ, जिनका हम ऊपर उल्लेख कर चुके है, इन पूर्व-निर्णयो को स्थिर रखने और बल देने मे सहायक होती है। कुछ धर्मो मे धार्मिक सहिष्णुता अधिक होती है और कुछ मे कम। जहाँ धार्मिक सहिष्णुता कम होती है वहाँ ये पूर्व-निर्णय अधिक पनपते है।

पूर्वग्राहों के कम करने के उपाय—पूर्वग्राहो का पूर्णतया निराकरण कर देना विरले ही वीतरागो का काम है, किन्तु उनके प्रभाव मे कमी लाई जा सकती है। कुछ लोग अन्तर्जातीय विवाहादि द्वारा इन पूर्वग्राहो को कम करने की सलाह देते है, किन्तु इसके सम्बन्ध मे प्राणिशास्त्रियो मे मतभेद है। शिक्षा-प्रचार और स्वस्थ प्रतिद्वन्द्विता द्वारा इन पूर्वग्राहो का वहुत कुछ शमन हो सकता है। नीचे लिखे साधन सुविधापूर्वक काम मे लाए जा सकते है:—

(१) भ्रातृभाव का प्रचार और दूषित दन्तकथाओ के खण्डन करने का प्रयत्न।

(२) जो व्यक्ति या जातियाँ या वर्ग पूर्वग्राहो के विषय वनते हें, उनके गुणो को तलाग कर प्रकाश मे लाना। एतदर्थ विपरीत उदाहरण खोजे जा सकते है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति गोडसे के कारण सारी महाराष्ट्र जाति से रुष्ट हो जाय तो उसे लोकमान्य तिलक, महात्मा गोखले, जस्टिस

रानाडे, डाक्टर भडारकर, वामन शिवराम आप्टे प्रभृति महानुभावों के चरित सुनाए जायँ। मुसलमानों के प्रति द्वेप कम करने के लिए हकीम अजमलखाँ, डाक्टर अन्सारी, तैयवजी, खान अब्दुल गफ्फारखाँ प्रभृति उदार और आत्मत्यागी व्यक्तियो के उदाहरण दिए जायँ। महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सर जगदीशचन्द्र वसु, सर चन्द्रशेखर रमण, पं० जवाहरलाल नेहरू, श्रीमती सरोजनी नायडू, श्रीमती विजयलक्ष्मी पडित आदि की विद्वत्ता और व्यक्तित्व ने विदेश मे हिन्दुस्तानियो के विरुद्ध यूरोप वालो के पूर्व-निर्णयों मे अन्तर उत्पन्न किया। अच्छे गुण हर व्यक्ति मे और अच्छे व्यक्ति हर जाति मे मिल सकते है। उन उदाहरणो पर वल दिया जाना आवश्यक है। नीची जातियो के प्रति घृणा कम करने के लिए शवरी, निषाद, केवट, रैदास आदि के उदाहरण दिए जा सकते है। तथाकथित नीच जाति के लोगों से शिक्षा लेने के सम्वन्ध मे 'परो अपावन ठौर मे कचन तजै न कोय' वाला दोहा उद्धृत किया जा सकता है।

(३) छोटे सामाजिक वृत्तो की अपेक्षा व्यापकतर और विस्तृत सामाजिक वृत्तो को प्रोत्साहन दिया जाय। उपजातीय सस्थाओं की अपेक्षा जातीय, और जातीय की अपेक्षा राष्ट्रीय और उससे भी वढकर अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ को पोपण दिया जाय। वर्ण-सम्वन्धी विपमताओं को दूर करने में धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सेवा सम्वन्धी व्यापक और सम्मिलित हित के आन्दोलनों ने वहुत कुछ योग दिया है। काग्रेस, आर्यसमाज, हिन्दू महासभा, कीर्तन-मण्डल, सेवा-समितियो आदि ने जाति-पाँति की कटुता को कम करने में सराहनीय योग दिया है। क्रिकेट आदि ने हिन्दू मुसलमानो के भेदभाव को कम किया है और साहित्यिक संस्थाओ ने अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता को वढ़ाया है।

(४) जो जातियाँ उपेक्षित, घृणित वा पूर्वग्राहों के विपय वनती है, उनकी ओर से भी उदारता, सहयोग और अद्वेप की नीति अपेक्षित है। महात्मा गाधी ने वोअर युद्ध मे घायलों की सेवा करने के लिए एक दल वनाकर गोरो की सहायता की थी। 'अक्रोवेन जयेत् क्रोधम्' की नीति को वरतना श्रेयस्कर होता है। युद्ध का मार्ग तो अन्तिम उपाय है।

(५) उच्च जाति के लोगो को चाहिए कि तथाकथित नीच जाति का पक्ष लें, जिससे स्वय उन लोगों को अपनी वकालत न करनी पडे, न विरोध के पथ का अनुसरण करना पड़े। ये उपाय कुछ इस प्रकार के हैं—

(क) सवको शिक्षा-लाभ कराने का प्रवन्ध करना और उनमे जो विशेप

योग्य होने की सम्भावना रखते हों उनका आदर करना और उनको उचित प्रोत्साहन देना।

(ख) उनको समान आर्थिक सुविधाएँ दिलाना और उनकी उन्नति में प्रसन्न होना।

(ग) उनको सब प्रकार को संस्थाओ में प्रवेश कराना और उच्च राजनीतिक पद दिलवाना।

(घ) उन लोगो के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करना। उनके लिए अच्छे मकानों, स्वच्छ गलियो और स्वास्थ्यप्रद स्थिति उपलब्ध करना या कराना।

(६) हर प्रकार की पार्थक्य की प्रवृत्तियो का विरोध करना, स्वयं पार्थक्य की नीति से बचना और दूसरो मे इस प्रवृत्ति को रोकना। ऐसी बातो को भी रोकना जों दूसरे पक्ष के लोगों को पार्थक्य की ओर ले जायँ। यह पार्थक्य ही पूर्व-ग्राहो का पोषण करता है। हिन्दुओं से हरिजनों के पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र बनाने के विरुद्ध महात्मा गाधी ने आगाखॉ महल मे ऐतिहासिक अनशन किया था। यदि उनका पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र हो जाता तो अवर्ण-सवर्ण के बीच की खाई और भी गहरी हो जाती।

(७) मानवतावादी साहित्य का प्रचार। मनुष्य का मनुष्य के नाते आदर करना। किसी को अपराधी या दोषी न समझना जब तक कि वह ऐसा प्रमाणित न हो जाय। हमेशा उदार दृष्टिकोण रखने और आत्मत्याग की भावना उत्पन्न करने वाले विचारो का प्रसारण करना। इसमे रेडियो, फिल्म, प्रेस और प्लेटफार्म, लोकमत बनाने के सभी साधनो का उपयोग करना।

(८) जो जातियॉ विरुद्ध पूर्व-ग्राहो का शिकार बनती है उनको आपस के भेद-भाव और पारस्परिक विरुद्ध पूर्व-ग्राहो को छोड देना या कम कर देना आवश्यक है। पारस्परिक वैमनस्य एक तो सम्मिलित मोरचा लेने मे बाधक होता है और दूसरी बात यह है कि विरोधी पक्ष को यह कहने का अवसर मिलता है कि 'जब तुम लोग आपस मे ही भेदभाव रखते हों तो हम लोग क्यों न भेदभाव रखे, जिस आधार पर तुम भेदभाव रखते हो उसी आधार पर हम भी ऊँच-नीच का अन्तर करते है।' इसीलिए महात्मा गाधी ने अँग्रेजो और हिन्दुस्तानियो मे भेदभाव दूर कराने से पूर्व स्वय हिन्दुस्तानियो मे जो छूत और अछूत का अन्तर था उसको मिटाने का जी-जान से प्रयत्न किया। यह उनकी न्यायप्रियता का द्योतक था। वे इस बात को पूर्णतया मानते थे कि—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्।

[*'साप्ताहिक हिन्दुस्तान'*, १ व ८ अगस्त, १९५४]

डुकरिया पुराण
(हमारे लोक-विश्वास)

यद्यपि अठारह पुराणों की प्रशस्त नामावली में डुकरिया पुराण का नाम खोजना अनुसन्धानकर्ता के प्रयास को विफल कर देगा तथापि भगवान् अनङ्ग देव की भाँति मसि कागद के कलुष से अछूते उसके वायवी अस्तित्व को प्रत्येक विचारशील मनुष्य स्वीकार करेगा। आजकल के पश्चिमी बुद्धिवाद का प्रखर तेजवाला शिव नेत्र भी उसे नितान्त भस्म करने में असमर्थ रहा है। वह भगवान् विष्णु की भाँति अपने को अच्युत कह सकता है।

धर्मशास्त्र हमारे जीवन को शासित करे या न करे किन्तु डुकरिया पुराण अपने अलिखित रूप मे हमारे जीवन को प्रभावित करता रहता है। अन्य कर्मकाण्डी शास्त्रो की यदि मान्यता बची हुई है तो इसी के बल पर। आपाद-मस्तक पश्चिमी सभ्यता मे सरावोर सूट-बूट धारी भारतीय छींक के होते ही खतरे की घटी की भाँति उससे ठिठक सा जाता है और कभी-कभी यदि उसमें प्राचीन सस्कार जोर मार जाते हे तो वह विघ्नेश्वर के पाद-पंकजों का स्मरण करते हुए मन ही मन 'वक्रतुण्ड महाकाय कोटि सूर्य समप्रभ.' कह अपनी यात्रा को मङ्गलमय वनाता है। विल्ली के रास्ता काटते ही हमारी यात्रा का उत्साह भङ्ग हो जाता है, चाहे हम अपने बुद्धिवाद का गर्व वनाए रखने के लिए घर न लौटे। मैंने कुछ महानुभावों को विल्ली के रास्ता काटने को वचाने के लिए उससे कुछ आगे दौडने का प्रयत्न करते देखा है। हथेली खुजलाते ही रुपये आने की प्रतीक्षा होने लगती है, चाहे पीछे हाथ ही क्यो न मलना पडे।

भारतीय अन्धविश्वासो की खिल्ली उडाने वाले और घोर बुद्धिवाद की दुहाई देने वाले अंग्रेज और अन्य यूरोप निवासी खाने की मेज पर तेरह आदमियो की सख्या होते ही चौदहवें को खोज करने लग जाते हैं। वे अवाछित मनुष्य का भी स्वागत करने को प्रस्तुत हो जाते हे। कोई यात्री होटल के तेरह नम्बर के कमरे मे ठहरना तो क्या असवाव रखना भी पसन्द नही करता। वेचारे होटल वाले भी एक कमरे के अस्तित्व को व्यर्थता के दुर्भाग्य से वचाने के अर्थ १२ ए के नाम से अभिहित करने लगते हैं। मेज पर यदि नमक फैल जाय तो वे उसको अशुभ समझ कर गिराने वाले की अवांछनीयता को लक्ष्य करके एक दूसरे की ओर झाँकने लगते हैं। उसका

परिहार कन्धे के ऊपर पीछे को नमक फेकने से किया जाता है। बुद्धिवाद की दृष्टि से तो और अधिक मात्रा मे नमक फेकना मूर्खता की पराकाष्ठा है किन्तु ये लोक-विश्वास, जो अँग्रेजी मे Superstitions है, बुद्धि के ऊपर (super) खडे होते है। यही Superstitions का शाब्दिक अर्थ है।

डुकरिया पुराण के इस अमिट अधिकार का क्या रहस्य है ? रहस्य तो अवश्य है क्योकि बिना कारण के कोई वस्तु अस्तित्व मे नही आती किन्तु बुद्धिवाद के कण को मन भर तो सहज बना लिया जाता है और फिर परम्परा का बल और प्राचीनता की स्वर्णिम आभा प्राप्त कर वह तिल का ताड और राई का पर्वत अवश्य बन जाता है। और कही आर्थिक हानि या जीवन की आशङ्का का सकेत मात्र भी हो गया तो हमारी आत्मरक्षा की सहज वृत्ति हमारे कार्यो मे ब्रेक लगाने लगती है। अन्य कारणो का उल्लेख करने से पूर्व हम इन्ही बातो की व्याख्या कर देना चाहते है।

छीक की बाधा बडी व्यापक और पुरानी है। बङ्गला में छीक को हॉची कहते है। यह शब्द भी अनुकृति मूलक है। इस सम्बन्ध मे एक कहावत है, "हॉची टिकटिकी बाधा जे न माने से गाधा।" छीक के सम्बन्ध मे मैंने किसी मनोविज्ञान की पुस्तक मे पढा था कि वह शरीर से श्वास निकलने का प्रतीक है। इसलिए अशुभ मानते है। उसकी अशुभता निवारण के लिए लोग प्रभू का स्मरण करते हुए कहते है 'छत्रपती ! घटे पाप, बढै रती !'

तेरह की सख्या अपने यहॉ अशुभ तो मानी ही जाती है क्योकि तेरह का सम्बन्ध मृतक की तेरहवी से है। (कुछ सयोग ऐसे आ जाते है कि तेरह की सख्या हरएक क्षेत्र मे अशुभ प्रमाणित होती है। पाकिस्तान के वजीर आजिम जनाव हसन सुहरावर्दी की कावीना (Cabinate) मे तेरह मन्त्री थे। इसीके परिणाम स्वरूप उनको अपने उच्च पद से हाथ धोना पडा।) अपने यहाँ तीन की सख्या विषमता की प्रतीक होने के कारण अशुभ मानी जाती है। शिवजी का तीसरा नेत्र भी प्रलयङ्कर है। तीन रोटियाँ या पूडियॉ एक साथ नही परसी जाती। तीन रोटियॉ यदि परसनी हो तो एक के दो टुकडे कर दिए जाते हे। सम सख्या मे विशेषकर चार की सख्या मे पूर्णता, एकसा-पन और सन्तुलन का भाव आ जाता है। वैसे पॉच और सात पवित्र माने जाते है। कही-कही तीन भी पवित्र माना जाता है, जैसे आचमन तीन ही बार किया जाता है।

अँग्रेजो में तेरह की सख्या अनिष्टकारिणी इसलिए मानी जाती है कि "प्रभू ईसामसीह सूली लगने के पूर्व अपने बारह शिष्यो के साथ एक मेज पर

खाने बैठे थे। वे तो पकड़ ही लिए गए थे और निर्दोष होते हुए भी सूली पर चढ़ा दिए गए थे किन्तु जिस शिष्य ने उनको पकडवाया था उसने भी ग्लानि-वश आत्महत्या करली थी—दुहरा खून ! फिर आदमी क्यों न सचेत हो ? अँग्रेजों मे लकड़ी छू लेना शुभ और अनिष्ट-निवारक समझा जाता है क्योंकि प्रभू ईसामसीह की सूली लकडी की थी। नमक का गिरना शायद इस कारण अशुभ माना जाता है कि नमक वहाँ जीवन के रस या आनन्द का प्रतीक समझा जाता है। अपने यहाँ भी नमक को रामरस कहते है। नमक के बिना सब चीज फीकी पड़ जाती है। उसका गिरना जीवन के रस के नष्ट होने का चिह्न माना जाता है।

अपने यहाँ भी पञ्चको में मरना अशुभ माना जाता है। इसमे किसी का कोई वश नही, और यात्राएँ तो सायत देखकर की जा सकती है किन्तु परलोक की यात्रा सायत देखकर नही की जाती। भीष्म पितामह की दूसरी बात है कि वे सूर्यदेव मे उत्तरायण होने तक शरीर धारण किए रहे। पञ्चकों में मरने के सम्बन्ध मे यह विश्वास है कि यदि कोई इन नक्षत्रो में मरे तो घर मे पाँच आदमियों के मरने की और सम्भावना रहती है। इसके परिहार के लिए कुशो के पाँच पुतले वनाकर रख दिए जाते है किन्तु कभी-कभी इससे भी अनिष्ट का शमन नही होता है। मैं इस विश्वास को दृढ नहीं करना चाहता हूँ किन्तु जव मेरे ज्येष्ठ पुत्र की बहू का स्वर्गवास पञ्चकों मे हुआ था तो इन सव शास्त्रीय और अशास्त्रीय परिहारों के कर देने पर भी उसकी लडकी और एक गाय के बछडे और वृद्धा सत्तर वर्ष की वूआ तथा एक कोई अन्य सहित पाँच व्यक्ति नही रहे थे। इस विश्वास में कुछ तो नाम का प्रभाव होता है। पञ्चक मे पाँच की सख्या आती है। नामों पर वहुत से अन्ध-विश्वास अवलम्बित होते हे। मोतीझले में अनविधे मोती खिलाए जाते है। वे तो शायद हजम भी नही होते है। (मोती की भस्म तो शायद केल्शियम प्रधान होने के कारण लाभदायक होती हो।) आँखों के रोहुओं के लिए बच्चों के गले मे रोहू के दाँत डाले जाते है। इसके अतिरिक्त और भी प्रवृत्तियाँ जो लोक-विश्वासो मे काम करती हे, उनमे से कुछ का विवरण यहाँ दिया जाता है।

(१) दूषित सामान्यीकरण की प्रवृत्ति—जैसे विल्ली के रास्ता काटने मे दो एक वार अनिष्ट हुआ हो, उसको एक सामान्य नियम वना लिया गया। ऐसे उदाहरणों पर हमारा ध्यान कम जाता है जव विल्ली के रास्ता काटने पर भी कोई अनिष्ट न हुआ हो। प्रभू ईसामसीह के वारह शिष्यों के

साथ भोजन करने का एक ऐतिहासिक उदाहरण है। उसका सामान्यीकरण कर उसे व्यापक बना लिया गया है और तेरह की संख्या ही अशुभ मान ली गई है। बहुत से ईसाई लोग शुक्रवार को नया काम आरम्भ नही करते। शुक्रवार को ईसामसीह की मृत्यु हुई थी। गाधीजी की भी मृत्यु शुक्रवार को ही हुई थी। मैं एक महानुभाव को जानता था, जो किसी नए आदमी से शुक्रवार को नही मिलते थे। शनिवार तो शायद अशुभ माना जाता है कि उसकी गति मन्द होती है। वह साढे सात वर्ष मे सूर्य का चक्कर लगा पाता है। उसका रग भी काला होता है। मनुष्य जीवन मे सामान्यीकरण का विशेष महत्त्व है। सारे वैज्ञानिक नियम ही सामान्यीकरण पर निर्भर होते है और वह सामान्यीकरण सब उदाहरणों की गणना पर नही होता। गणना मात्र का सामान्यीकरण निरर्थक और बाल-चापल्य माना जाता है किन्तु वैज्ञानिक सामान्यीकरण विश्लेषण और प्रयोग पर निर्भर होता है। एक बार भगवान् कृष्ण को चौथ का चन्द्रमा देखने के कारण स्यमन्तक मणि की चोरी का मिथ्या कलङ्क लगा था। इसकी कथा इस प्रकार है—एक बार ब्रह्माजी ने गणेश चतुर्थी का व्रत रखा था। चन्द्रमा ब्रह्माजी की चतुर्मुखी विकृत आकृति पर हँसा था। ब्रह्माजी का कोपभाजन बनकर उसको शाप लगा था कि जो कोई चन्द्रमा को देखे वह कलङ्की हो किन्तु बहुत अनुनय विनय करने पर वह शाप गणेश चतुर्थी के लिए सीमित हो गया था। गोस्वामी तुलसीदासजी ने इसका उल्लेख किया है 'तौ पर नारि लिलार गुसाई। तजिय चौथ चन्दा की नाई।' श्रीमद्भागवत (१०।५६) मे स्यमन्तक मणि की चोरी की कथा है। एक कारण यह भी सम्भव हो सकता है कि चौथा चन्द्रमा अनिष्टकर होता है, इसलिए चौथ का चन्द्रमा भी अनिष्टकर समझा जाने लगा। इसके दोष के परिहार के लिए लोग दूसरो के घर में पत्थर फेंककर गालियो का आह्वान् करते है। भगवान् कृष्ण ने तो अपना कलङ्क पुरुषार्थ द्वारा मिटाया और उनको उसका फल भी अच्छा मिला। मैं तो स्वय जान-बूझकर चौथ के चन्द्रमा के दर्शन कर लेता हूँ। झूठा कलङ्क लगने से मै सच्चे कलङ्क लगने से बचा रहूँगा। मैंने बहुत से धर्म-ढोंगी भ्रष्टाचरण वाले पुरुषों को गणेश चौथ के दिन सायकाल से कमरे मे बन्द होते देखा है। मैंने उनमे से एक से कहा, 'भाई, ऐसे आप निष्कलङ्क नही जो झूठे कलक से भयभीत हो।' कलक की चर्चा होने से तो पाप घटता है। बौद्धो और रोमन कैथोलिको मे तो अपने अपराधो की आत्म-स्वीकृति का एक पर्व होता है।

(२) नाम का सम्बन्ध—नाम के सम्बन्ध मे हम रोहू मछली के दाँतो

का उदाहरण दे चुके है। स्त्रियों मे जो बुध की यात्रा का निषेध रहता है उसका कोई शास्त्रीय आधार नही है। यदि है तो बुध के साथ विछोह के अनुप्रास का है। इसका परिहार भी बुद्धशुद्ध कहकर अनुप्रास के आधार पर कर लिया जाता है। नाम और नामी के सम्बन्ध के ही आधार पर रात में साँप का नाम नही लेते। प्रायः लोग उसे 'कीडा' कहते हे। बङ्गला मे 'लता' कहते हैं। ऐसा विश्वास है कि जहाँ साँपो की चर्चा होती है वहाँ साँप रहते है। इसी विश्वास का सहारा लेकर गुप्तजी ने साकेत मे श्री रामचन्द्रजी से कहलाया है—

चर्चा भी अच्छी नही बुरो की मानो।
साँपो की बातें जहाँ वही वे जानो॥

(साकेत, पृष्ठ १६८)

नाम के आधार पर ही नीलकण्ठ का दर्शन शुभ माना जाता है। विप-पान करने से शिवजी नीलकण्ठ कहलाए। शायद इसी वर्ण-साम्य के कारण नीलकण्ठ का दर्शन शुभ माना जाता है। चावलों को अक्षत कहते है। अक्षत शब्द शुभ है। अक्षतो का प्रयोग प्रत्येक शुभ कार्य मे होता है। आम्र की भी पवित्रता उसके लाल होने के कारण मानी जाती है।

(३) अशुभ अवसरो पर होने वाले कार्यों को करना—जो काम मृत्यु, शवदाह आदि के समय किए जाते है उनको साधारण अवसरो पर इसलिए नही करते कि वे अमङ्गल सूचक हे और कही अमङ्गल के अनुगामी के स्थान मे उसके अग्रगामी न बन जायँ। जिन लोगो के पिता जीवित होते है वे सिर पर सफेद कपड़ा नही बाँधते है और न सिर और मूँछे मुडाते हे। ये कार्य पिता की मृत्यु पर ही होते है। अब मूँछे मुड़ाना नित्य का कर्म हो गया है और अब उनकी शान-बान और ऐंठ-अकड़ भी जाती रही। अब वे पहले तो तितली बनी और पीछे से उड गई। अब तो वे न ऊँची और न नीची। शायद इसी कारण कोरा कपड़ा भी नही पहना जाता है। किन्तु इसका एक वैज्ञानिक कारण भी है। कपड़े के बिना धुले बजाज और दर्जी की दूकान की गन्दगी नही जाती। यह नियम ऊनी कपड़े के साथ नही हे। कनागतों मे पितृपक्ष से सम्बन्ध होने के कारण विवाह शादियों और किसी अन्य शुभ कार्य की जैसे गृहप्रवेशादि की बात नही चलती। कनागत का शुद्ध शब्द है कन्यागत अर्थात् सूर्य जब कन्याराशि मे आता है तब कनागत लगता है। हमारे यहाँ मुहर्रमी के लिए कन्याराशी शब्द है। कनागतो में हजामत नहीं बनवाते हे और न कपड़े बदलते है। यह शायद ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए

हो। सधवा स्त्रियाँ हाथ की चूडी और पैर के बिछवे नही उतारती और सिन्दूर बिन्दु की भी रक्षा करती है क्योकि इनका अभाव वैधव्य का सूचक है। चूड़ियाँ चाहे बन्धन की द्योतक हों किन्तु यह प्रणय-बन्धन बडा मधुर और स्पृहणीय समझा जाता है। मेहमान के आगमन पर पहले दिन उसे उड़द की दाल नही खिलाते क्योकि शोक के दिन पहले उडद की दाल ही खाई जाती है। मेहमान या प्रियजन के जाते ही तुरन्त घर मे झाड़ू नही दी जाती है क्योकि प्रायः मृतक के उठ जाने पर घर की सफाई होती है। इसके अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि हम अपने मन मे इस व्यञ्जना को स्थान नही देना चाहते है कि उनके रहने से घर गदा था और उनके जाते ही घर की सफाई की आवश्यकता है।

साधारण बोल-चाल मे अशुभ व्यञ्जना वाले शब्द को बचाया जाता है। दूकान बन्द करने के स्थान मे उसे बढाना कहते है। दीपक कुल के दीपक पुत्र का द्योतक है। इसलिए उसको बुझाना नही कहते है, उसको भी बढाया जाता है। चूड़ियाँ भी सौभाग्य सूचक होने के कारण उतारी नही जाती, बढाई जाती है। अमङ्गल का नाम लेना अमङ्गलकारी होता है।

(४) शुभ अवसरो पर होने वाले कार्यो के विपरीत न करना—जैसे जिस रोज कड़ाही चढ़ती है उस रोज तवा नही चढ़ता। जन्म दिवस, होली, दिवाली, दशहरा आदि पर्व दिवसो पर चाहे दाल-चावल बन जाय, रोटी नही बनती। हिन्दू धर्म इतनी आवश्यकतानुकूलता रखता है कि यदि पर्व दिन को रोटी बनाना ही हो तो कडाही मे बना लेते है। आवश्यकता भी पूर्ण हो जाती है और लकीर की फकीरी का भी निर्वाह हो जाता है। सधवा स्त्रियाँ पर्व दिवसों पर सादी धोती नही पहनती है। त्यौहार के दिन लकडी भी नही खरीदी जाती, शायद, इसलिए कि उनका अन्तिम सस्कार मे काम पड़ता है।

(५) देखने मे अशोभन या असुन्दर वस्तु या बात बचाई जाती है—जैसे जूते पर जूता रखा होना। जूता जोड़े मे ही शोभा देता है। उलटी झाड़ू या चारपाई रखना अच्छा नही लगता। सन्ध्या समय का खाना दीपक जलने पर ही खाना। प्रकाश का भोजन के साथ कोई वैज्ञानिक सम्बन्ध हो सकता है। प्रकाश का वस्तुओ की वृद्धि और पोषण पर असर पडता है। इसीलिए ग्रहण के समय खाना-पीना वर्जित हो जाता है। लोक-विश्वासो के पीछे उनको दृढता देने के लिए दन्तकथाएँ भी प्रचलित हो जाती है। शाम को पढ़ना भी वर्जित है। शायद इसलिए कि उससे नेत्रो की ज्योति को हानि

पहुँचती है। रात में अदवाइन नही लगाते। तथाकथित कारण तो यह होता है कि इससे लड़कियाँ अधिक होती हैं। किन्तु रात को अदवाइन लगाना आग लगे पर कुआ खोदने का प्रतीक है और पुरुषार्थहीनता का द्योतक है। जो काम करणीय है उसको अन्त समय तक न टालना चाहिए। रात मे फाँस लगने का भी भय रहता है।

(६) प्रतीक—बहुत सी बातों का महत्त्व प्रतीकात्मक होता है; जैसे, भरे घड़े शुभ माने जाते है। वे पूर्णता और समृद्धि के प्रतीक होते हे। इसीलिए शुभ अवसरो पर कलश की स्थापना होती है। दूर्वा भी वृद्धि का प्रतीक होने के कारण मङ्गल की सूचक होती है। इसके लिए कहा जाता है, 'काण्डे काण्डे प्ररोहति।' भगवान् की श्यामता की भी उससे उपमा दी जाती है—दूर्वादल श्याम। पुत्र-जन्म की सूचना प्रायः दूब भेज कर ही दी जाती है। यात्रा के समय दधि और मिष्टान्न खाते हैं, खटाई नही, इसलिए कि शायद खट्टा खाने का मुहावरा सार्थक न हो जाय।

शकुन और अपशकुन—ये भी डुकरिया पुराण के प्रमुख अङ्ग है। शुभ शकुन एक नया उत्साह पैदा कर देते हैं। कुछ वस्तुएँ जैसे गाय और बछड़ा विशेष कर दूध पीता हुआ बछड़ा शकुन माना जाता है। गाय अपने यहाँ पवित्र मानी गयी है और समृद्धि की भी प्रतीक है। भरा घड़ा भी पूर्णता और सफलता का प्रतीक है। स्त्रियाँ कौवे के उड़ जाने को मेहमान के आने का शकुन मानती है। प्रोषित पतिकाओ मे काक का विशेष मान है। एक प्रोषित पतिका कहती है :—

पैजनी गढाइ चोच सोने में मढाइ देहौं,
कर पर लाइ पर रुचि सो सुधारिहौं
× × ×
एरे कारे काग तेरे सगुन संजोग आज,
मेरे पति आवें तो बचन ते न टरिहौं।

—तोष

पुरुष के दाहिने अङ्ग का फड़कना शुभ मानते है और स्त्री के वामाङ्ग का। रामचरितमानस मे श्री रामचन्द्रजी के लङ्का से प्रत्यागमन के अवसर पर भायप भक्ति की मूर्ति तपस्वी भरतजी के दाहिने अङ्ग बाहु और नेत्र फड़कते हुए दिखाए गए—

भरत नयन भुज दच्छिन, फरकत बारहिं बार।
जानि सगुन मन हरष अति, लागे करन विचार॥

इन अङ्गों के फडकने की पूर्ण व्याख्या शरीर क्रिया विज्ञान (Physiology) भी नही कर सका है। वह 'कैसे ?' की ही व्याख्या करता है, 'क्यो ?' की नही। कुछ फालतू स्नायु शक्ति सीधे रास्ते न जाकर अन्य स्नायु केन्द्रों की ओर झुक जाती है और उनमे स्फुरण पैदा कर देती है। वह शक्ति अपने पथ से क्यो विचलित हो जाती है, इसका कोई कारण नही दिया जाता है। जिन बातो का कोई वैज्ञानिक कारण नही दिया जा सकता उनको प्रायः दैवी मान लिया जाता है।

एक आगमिष्यतपतिका वाम बाहु को महत्त्व देती हुई कहती है—

> वाम बाहु फ़रकत मिलै, जो हरि जीवन मूरि।
> तो तोही सो भेंटिहो, राखि दाहिनी दूरि॥

कुछ जानवर शुभ माने जाते है और कुछ अशुभ। तुलसीदासजी ने नेवला, मछली, शीशा, सफेद चील, चकवा और नीलकण्ठ का दर्शन शुभ माना है—

> नकुलु सुदर्शन दर्सनी, छेमकरी, चक, चाप।
> दस दिसि देखत सगुन सुभ, पूजहि मन अभिलाप॥

नकुल सर्प का भक्षक होने के कारण, मछली प्रेम का प्रतीक होने के कारण, शीशा अपना ही मुख दिखाने के कारण, छेमकरी अपने सफेद रग के कारण, चकवा प्रातःकाल और आशा का प्रतीक होने के कारण, नीलकण्ठ (चाप) शिवजी के सादृश्य के कारण शायद शुभ माना जाता हो। छेमकरी का उल्लेख रामचन्द्रजी की वरात के प्रस्थान के समय भी हुआ है। उस समय और भी शुभ शकुन दिखाए गए है—

> छेमकरी कह छेम बिसेखी, स्यामा वाम सुतरु पर देखी।
> सन्मुख आयउ दधि अरु मीना, कर पुस्तक दुइ विप्र प्रवीना॥

अपशकुनो का साहित्य मे कई स्थानों पर उल्लेख हुआ है। कमल लाने के अर्थ श्यामसुन्दर के कालीदह मे कूदने पर नन्द और यशोदा को अपशकुन दिखाई दिए थे। यह स्नेहाधिक्य के कारण वढी हुई शङ्का का फल था और यह शङ्का नितान्त अकारण भी नही थी।

> देखे नन्द चले घर आवत।
> पैठत पौरि छीक भई बाँएँ,
> दहिनैं धाह सुनावत।

झरकत स्रवन स्वान द्वारे पर,
गररी करति लराई।
माथे पर ह्वै काग उडान्यौ,
कुसगुन बहुतक पाई।
आये नन्द घरहिं मन मारे,
व्याकुल देखी नारि।

नन्द घरनि सौं पूछत बात।
बदन झुराइ गयौ क्यों तेरा,
कहाँ गये बल, मोहन तात?
"भीतर चली रसोई कारन,
छींक परी तब आँगन आइ।
पुनि आगे ह्वै भई मँजारी,
और बहुत कुसगुन मैं पाइ॥"

यह लोक-विश्वास सूर और तुलसी के समय में भी थे और बहुत प्राचीन काल से चले आते है। इनमे से बहुत से अपशकुन स्वयं भी अपनी भयङ्करता के कारण अशुभ सूचना के द्योतक होते है। जैसे, श्वान का रोना आदि।

डुकरिया पुराण की सभी बाते बुद्धिवाद के विरुद्ध नही है। कुछ का कारण हम नही जानते, उनके कारण की खोज करनी चाहिए। कारण की खोज चाहे हम न कर सके किन्तु जातीय मनोवृत्तियों और परम्पराओ के अध्ययन के ये अच्छे साधन है। दो चार उदाहरणो को सत्य होते देखकर इनको सत्य और वैज्ञानिक मान लेना भी ठीक नही है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने बहराइच के मियाँ साहब की जात के विरुद्ध दूपित सामान्यीकरण से बचने के प्रत्यक्ष अनुभव की अपील की है—

लही आँख कब आँधरे,
बाँझ पूत कब ल्याय।
कब कोढी काया लही?
जग बहराइच जाय॥

हमको यह परीक्षा बुद्धि व्यापक बनाना चाहिए। लोक-विश्वासों के कारण खोजना चाहिए और केवल जनश्रुति पर निर्भर न रहकर परीक्षा करना चाहिए।

ऐसे बिरले ही होते है जो लोक-विश्वासों की अवहेलना कर अपनी मौत को भी खतरे मे डालते है। कबीरदास काशी मे रहते थे किन्तु मरने के लिए मगहर गये। वहाँ के लिए यह विश्वास है कि वहाँ मरने वाला नरक मे जाता है। वहाँ कर्मनासा नदी भी है जिसके कारण सब शुभ कर्मो का नाश हो जाता है। तुलसीदासजी इस बात मे विश्वास करते थे। किन्तु कबीर ने बड़े साहस के साथ कहा :—

मगहर मरे तो गदहा होई,
भल परतीत राम सो खोई।
क्या कासी क्या ऊसर मगहर,
राम हृदय बस मोरा।
जो कासी तन तजै कबीरा,
रामै कौन निहोरा।

हमको अपने मन कपाट खुले रखकर परीक्षाबुद्धि से काम लेना चाहिए। तुलसी और कबीर के उद्धरण इस बात के प्रमाण है कि वे लोग भी बुद्धिवाद के नितात विरुद्ध नही थे। हम तो बुद्धि से काम लेते है। इन लोक-विश्वासो को केवल कुपढों की कपोल-कल्पना कहकर उडा देना ठीक नही। इनको मनोवैज्ञानिक अध्ययन का विषय बनाकर अन्य प्रान्तो के भी लोक-विश्वासों की जानकारी प्राप्त करना वांछनीय होगा। इससे भारत की सांस्कृतिक एकता पर प्रकाश पड़ेगा।

['प्राची', ८ नवम्बर, १९५४]

फैशन का मनोविज्ञान

मनीषी-प्रवर डार्विन का विकासवाद का सिद्धान्त चाहे सच्चा प्रमाणित हो चाहे झूठा किन्तु अनुकरणशीलता में मनुष्य वन्दरों का वंशज नही तो निकट सगोत्री अवश्य है। मानव जाति में अनुकरण की प्रवृत्ति सहज और व्यापक है। लडके-वच्चो के घरुए-पतुए वनाने और गुडिया-गुड्डों के अनुकरण-प्रधान खेलो से लगा कर चित्रकारी, मूर्तितक्षण-कला तथा नाटक-सिनेमा के नयनाभिराम और श्रुति सुखद नाना प्रकार के दृश्य, श्रव्य अभिनय, सब अनुकरण देव के दिग्दिगन्तव्यापी साम्राज्य का दुन्दुभी-उद्घोष करते है। हमारे पुराने रीति-रिवाज और आजकल के फैशन इसी अनुकरण-प्रवृत्ति की उपज हैं किन्तु इनमें थोडा अन्तर है।

रीति-रिवाज और फैशन में अन्तर—रीति-रिवाजों में काल-क्रमानुगत परम्परा की पावनी प्रतिष्ठा रहती है, तो फैशन मे आधुनिकतम नवीनता के सुखद गर्व का अनुभव होता है। रीति-रिवाज की शृङ्खला पीछे की ओर जाती है, तो फैशन की कडियाँ सजीव वर्तमान मे फैली रहती है। रीति-रिवाज का पुजारी वेदो, शास्त्रों और साहित्य के साथ समाज के बड़े-बूढो के शिष्टाचरण का सहारा लेता है। फैशन का उपासक ताजे से ताजे अद्यतन अखबारो और पत्रिकाओ के चित्रो और टेलर-मास्टरो के वेद-वाक्यो को प्रमाण मानता है। रीति-रिवाज मे अकल का दखल नही रहता, रुचि-वैचित्र्य के लिए इसमे कोई स्थान नही। यदि विवाह के समय घूरा पूजा जाता है तो नन्दनकानन के समारम्भो की पूजा नही हो सकती। माह-पूस में भी वारोटी के समय शरवत के घड़े तो आते ही हे चाहे कोई पिए नही। इसीलिए रीति-रिवाजों मे परिवर्तन बहुत कम होते है, वे चाहे उपेक्षा की मौत मर जायँ। किन्तु फैशन मौसम की भाँति वदलते रहते है। जहाँ रीति-रिवाज मे 'यथा धातापूर्वमकल्पयत्' की बात रहती है वहाँ फैशन 'नई आई पुरानी को विदा करो' की दुहाई देता है। तभी तो वेचारे दर्जियो और सुनारो को वेकारी का भूत नही सताता है। 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति' स्वरूपवाले फैशन देव की वे सदा जय मनाते हे। रीति-रिवाजों की अपेक्षाकृत अपरिवर्तनशीलता का एक कारण यह है कि उनमे सामाजिकता की तुष्टि के साथ धार्मिकता भी रहती है। शुभ अवसरो से सम्बन्धित रीति-रिवाजो के रद्दोवदल में अनिष्ट का थोड़ा अज्ञात भय लगा रहता है। फैशन में केवल समाज के अनुमोदन का

सुख और उसके भंग या परिवर्तन में कुछ हँसी का भय रहता है जो अनिष्ट के भय से कम शक्तिशाली है। मनुष्य मे स्थिति-रक्षा (कजरवेटिज्म) के साथ परिवर्तन की प्रवृत्ति भी रहती है। स्थिति-रक्षा की प्रवृत्ति रीति-रिवाज मे रहती है तो परिवर्तन की प्रवृत्ति फैशन मे। फैशन का रीति-रिवाज भी अधिक विरोध नही करते। फैशन हमारे सास्कृतिक जीवन का समयानुमोदित एव परिवर्तनशील अभिव्यजन है। फैशन केवल पोशाक और वेश-भूषा का ही नही होता, वरन् सजावट आदि का भी होता है। परदो के रग, फर्नीचर, मूर्तियो, फूलो, गुलदस्तो आदि के सब अलग-अलग फैशन होते है।

रीति-रिवाज की अपरिवर्तनशीलता—यहाँ पर रीति-रिवाज की अपरिवर्तनशीलता और फैशन की परिवर्तनशीलता के दो एक उदाहरण देना अप्रासगिक न होगा।

विवाह के बहुत से रीति-रिवाज जैसे, मधुपर्क से स्वागत करना, शिलारोहण, अरुन्धती और सूर्य का दर्शन, लाजा होम मे वधू के भाई की उपस्थिति—सूत्रकाल से अक्षुण्ण चली आ रही है। गोस्वामीजी ने इनका सोल्लास वर्णन किया है—'पूज कीन्ह मधुपर्क' (पार्वती मगल)। जानकी मगल का वर्णन पढकर बहुत से लोगो की अपने विवाह की मधु-स्मृति जागृत हो जायगी।

अगिनि थापि मिथिलेस कुसोदक लीन्हेउ।
कन्यादान विधान सकलप कीन्हेउ ॥१६१॥
सिन्दूरबदन होम लावा होन लागी भाँवरी।
सिलपोहनी करि मोहनी मन हरयौ मूरति साँवरी ॥१६२॥
सिय भ्राता के समय भौम तहँ आयउ।
दुरी दुरा करि नेगु सुनत जनायउ ॥१६६॥
जुआ खेलावत कौतुक कीन्ह सियानिन्ह।
जीत-हारि-मिस देहिं गारि दुहुँ रानिन्ह ॥१६८॥

नई रोशनी के चकाचौध मे ये रीति-रिवाज कुछ धुँधले पडते जाते है। सिविल मैरिज मे इनके लिये कोई स्थान नही रहा।

एक और उदाहरण लीजिए। दीपावली के दूसरे रोज पौ फटने से पूर्व स्त्रियाँ सूप को दो अँगुलियो से ठोकती हुई दलिद्दर को दूर करती है। हमारे यहाँ सौभाग्यवश इस प्रथा का लोप नही हुआ है। उससे मेरे घर का दारिद्र्य दूर हुआ या नही (वैसे कोई शिकायत भी नही), किन्तु इतना लाभ अवश्य हुआ कि तुलसीदासजी की नीचे लिखी पक्तियो का बिना टीका के अर्थ लगा सका—

फलै फूलै फैले खल, सीदैं साधु पल पल।
खाति दीपमालिका, ठठाइत सूप है ॥

फैशन की परिवर्तनशीलता—ऊपर की पक्ति मे वर्णित यह प्रथा तीन सौ वर्ष से जीवित है। हाँ! अब इसके जीवित रहने में शंका है। किन्तु तुलसी और सूर के समय के फैशन अब बदल गए है। उनका अवशेष अब अजायबघरों मे या चित्रों मे ही देखने को मिलेगा। सूरकृत कृष्णजी का तथा तुलसीकृत रामचन्द्रजी का बालवर्णन लीजिये और आजकल के फोटो कम्पटीशन के मुन्ना लोगो से मिलाइए, जमीन-आसमान का अन्तर मिलेगा।

कटि किंकिनी, पैजनो पायन बाजति रुनझुन मधुर रेंगाये।
पहुँची करनि, कठ कठुला बन्यो केहरिनख मनि जरित जराये ॥
पीत पुनीत विचित्र झँगुलिया सोहत स्याम सरीर सुहाये ॥
× × × ×
लटकन चारु भ्रकुटिया टेढी मेढी सुभग सुदेस सुहाये।
—गीतावली

मेढी शब्द कान के पास की अलकों का, जिन्हें संस्कृत में काक-पक्ष कहते थे, वाचक है। वे तो अब कुछ अर्द्धविकसित जातियो मे अवश्य दिखाई पडती हैं। शिक्षा फैशन के परिवर्तनो मे एक प्रधान तत्त्व है। नूपुर और किंकिनी का स्थान अब झुनझुनो ने ले लिया है। पहला जीवन अधिक संगीत-मय था। सूर और तुलसी ने तो भगवान् कृष्ण और राम को कुलही से (जो फारसी कुलाह् का लघुवाचक रूप है) सुशोभित किया है।

कुलही लसत स्याम सुन्दर कैं, बहुविधि सुरंग बनाई। (सूर)

कुलही चित्र-विचित्र झंगुली।
निरखत मातु मुदित मन फूली ॥ (तुलसी)

राजपूताने में भी परिवर्तन—इन चीजो के अब दर्शन दुर्लभ हो गए है। देशी रियासतो मे स्थिति-रक्षा की प्रवृत्ति अधिक होती है। किन्तु वहाँ भी फैशन का भूत समाज को परिवर्तनशीलता की ओर खीचे लिए जा रहा है। राजपूती पेचदार पगड़ियाँ, आन-बान की पुनीत स्वरूपा नुकीली मूँछें, तनीदार अगरखे, रङ्गीन कमरपेटे और सुनहरी-रुपहली मूठ की तलवारें अब परिवर्तनचक्र की लपेट मे आती जा रही हैं। उनका स्थान खुले गले के कोट और ब्रीचेज, साफे या हैट और क्लीन शेव ने ले लिया है। मूँछ का अब वह महत्त्व नही रहा है जो पहले था। रङ्गीनी भी अब थोड़ी बहुत साफे में रह

गई है। दाढी-मूँछो के क्षेत्र में सभी देशों मे परिवर्तन हुए। इङ्गलैड मे दाढी-मूँछों का ही नही गलमुच्छों का भी प्रभुत्व रहा है। उन्नीसवी शताब्दी के डारविन, हर्बर्ट स्पेन्सर वगैरह सब गलमुच्छे रखते थे। दाढी मुडी। मूँछे कट के तितली बनी। फिर तितली बनते ही वे तुरन्त उड़ गईं। इसका प्रसार भारत मे भी हुआ।

साधारण पुरुषों की वेश-भूषा—कमीजो ने ही हिन्दुस्तान मे कितने फैशन बदले। एक जमाना था जब लोग डिनर या ड्रेस सूट की चौडी प्लेटदार कलफ और घुटाई से कडे और सुचिक्कण कफ और कालर वाली कमीज को पसन्द करते थे। कफ और कालर की कडाई और सफाई बेचारे धोबी की कार्यकुशलता के मापदण्ड बनते थे। अब बहुत दिन हुए वह बहार बीत गई और उनके प्रेमी भ्रमरो ने 'अइहै बहुरि वसन्त ऋतु इन डारन वे फूल' की भी आशा छोड़ दी। इसका मुझे अफसोस नही क्योंकि मैं गरीबी के कारण इस शौक मे नही पडा। कोटो और पैंटो मे भी परिवर्तन हुआ। कोट कुछ ऊँचे उठे, गला कभी कम और कभी अधिक खुला। खुले गले मे भीतर की धवल धौत कमीज की स्वच्छता का प्रदर्शन होता रहता है। टाई और बो भी चली। उनमे टाई का शौक अब भी बाकी है किन्तु बुशशर्ट ने उसे भी अजायबघर मे पहुँचाने की तैयारी कर दी है। भला हो गाधी टोपी का, क्रिस्टी लन्दन की फैल्ट कैप तो भारत से ऐसी गई जैसे गधे के सिर से सीग। एक बार आगरे मे मेरी फैल्ट कैप होली मे स्वाहा हो चुकी है। घडी और चैन को भी रिस्टवाच ने पदच्युत कर दिया। पहले मै ताँगे इक्केवालों के मुख से सुना करता था 'डारि घरी औ चैन, छोरा बनि गयो जन्टरमैन।' यह बात अब भुलाई जा चुकी है। इसकी ध्वनि-तरगे अब किसी दूरस्थ तारे मे पहुँच गई होंगी।

जूतो मे भी बड़े परिवर्तन हुए। देशी जूतो मे सलीमशाही चलते थे और विलायती जूतो की नोक आदमी की नाक से प्रतिस्पर्द्धा करने लगी थी। वे शायद चर्च शेप कहलाते थे। बोदार पम्प शू का भी बोलबाला रहा। दरबारी ड्रेस का वह अग बन गया था। फुलसिलीपर और सिलीपरो ने भी कई रूप बदले। ग्रीसियन कट आया। कलकतिए सिलीपर, जिनको स्त्री और पुरुष समान रूप से पहनते थे, अब शायद कलकत्ते मे जीवित हो तो हों नही तो अब उनका स्थान बहुरुपिली चप्पल ने ले लिया है। हाफ बूटो का भी जमाना गया। शू का साम्राज्य आया। सैन्डिल को उसका उत्तराधिकार मिला और घर और बाहर दोनो मे एक समान मान्य काग्रेसी जनो और

साहित्यिको की कृपा से चप्पल प्रचार में आई। जूतों के तलो ने भी कई चोले धारण किये। लोगो की अहिंसावृत्ति जब जोर मारती है तब कभी क्रेप सोल, कभी रबर सोल और कभी टायर सोल चल पडते है किन्तु अभी निवृत्ति मार्ग की पूर्ण स्थापना नही हुई है।

कोट, पैंट अब भी अँग्रेजी के साथ-साथ, और बहुधा वहाँ भी जहाँ अँग्रेजी का लिया-दिया ज्ञान भी नही होता, चलते है किन्तु अब खद्दर के कुरते और गाधी टोपी का बोलवाला है। जहाँ दरबारी ड्रेस के बिना प्रवेश वर्जित था वहाँ अब राष्ट्रीय पोशाक मे निमन्त्रण-पत्र के बिना भी धड़धडाते चले जा सकते है। किन्तु दुर्भाग्य, कुछ स्वार्थ-परायण लोगो के कारण गाधी टोपी को ४२० (फोर ट्वेन्टी) की भाँति ३०३ (थ्री नॉट थ्री) के नाम से, जो किसी कारतूस का नम्बर है, पुकारा जाता है। फिर भी शीर्ष स्थान पाने मे इसका प्रतिद्वन्द्वी कोई नही है। वैध अवसरो पर शेरवानी, अचकन और चूडीदार पायजामा गाधी टोपी के साथ भारतीयता का द्योतक बना हुआ है।

औरतों की पोशाक—बेचारी अबलाएँ क्यो उपेक्षित रहे। नही तो उनकी मान-रक्षा के लिए किसी आचार्यप्रवर को लेखनी का अमोघ अस्त्र उठाना पडेगा। विलायत मे तो स्कर्ट ने शेयर मार्केट के भावो के से उतार-चढाव देखे। पहले वे जमीन बुहारती चलती थी, फिर जूतों के दर्शन होने लगे और फिर घुटनो तक आ गई, अब शायद उतार आ गया है। किसी जमाने में घेर मे इतनी कमी हो गई थी कि फुदककर चलने की नौबत आ गई थी। अब बेचारी विलायती रमणी कटि की क्षीणता दिखाने के लिए पहले की सी कार्सेट नही पहनती। (हमारे यहाँ तो कवियों की दृष्टि में ही उनकी कटि भिड के समान हो गई और कविवर शंकरजी ने तो उनको ब्रह्म की समानता दे दी जिसके अस्तित्व मे ही सन्देह आ गया।) वैसे कोई भौतिक बन्धन का आविष्कार नही हुआ नही तो कटि का अस्तित्व मिटाकर धड़ और टाँगे अलग हो जाती। भारतीय औरतो की तीहल तो अब तीज-त्योहार पर भी दर्शन नही देती। पहले जमाने मे तो वह तोल और मोल दोनो मे भारी होती थी। गोटा, किनारी, ठप्पा, पैमक, गोखरू, बाँकडी, सलमा, सितारा, गिजाई और कभी-कभी मोती भी, न जाने और क्या-क्या अलकरण उसके पल्लो को अलकृत करते थे। कपडा भी कमख्वाब से कम नही होता था। अब उसका स्थान एक पन्थ दो काज वाली एक ही वस्त्र में सांगोपांग सज्जित करने वाली साड़ी ने ले लिया है। सलवार उसकी प्रति-

द्वन्द्विता कर रही है, किन्तु वह उसके आगे डटने वाली नही। अन्तःपट ने भी कई रूप बदले—फतुही, वास्कट, कमीज, ब्लाउज और बॉडिस प्रचार मे आ गई। उनके नए-नए डिजायनो को प्रत्यक्ष रूप देने मे टेलरो मे भी विशेषीकरण हो गया है। अब लेडीज टेलर्ज अलग होते है। गहने अब तोल मे तो नही मोल मे अधिक भारी होते जाते है। यूरोप मे स्वर्ण का स्थान प्लेटीनम लेता जा रहा है, किन्तु स्वर्ण अपने कार्य मे स्वर्ण ही है। सौभाग्य-सूचक आभूषणो मे नथ का लोप होता जा रहा है क्योकि उसमे कुछ दासता का आभास मिलता है।

फैशन बदलने के अपवाद—मै अपने जीवन मे तो फैशन से दूर रहा किन्तु इस लेख मे फैशन के बहाव मे बह गया। मनमोदको से भूख बुझा ली। पाठकगण इस समय की बरबादी को क्षमा करेगे।

फैशन बदलने के कारणो की छानबीन करने से पूर्व हमको परिवर्तन के अपवादो पर भी विचार कर लेना चाहिए। फैशन बदलते भी हे और कुछ स्थानो मे स्थायी भी रहते है। बेपढे और जगली लोग कम परिवर्तनशील होते है। विलायत के राजघराने और अभिजात्यवर्ग भी अपेक्षाकृत अपरि-वर्तनशील होते है, विशेषकर वैधानिक अवसरो पर। अँग्रेज खाने की पोशाक बदले बिना कुछ असुविधा का अनुभव करने लगते हैं। अमरीका मे ऐसी कडाई नही है। फ्रास फैशन बदलने के लिए बदनाम है। धार्मिक लोग—पादरी और महन्तिनी—परिवर्तन की व्यार से अछूती रहती है। पादरी लोग अब भी उलटा कालर पहनते है। मारवाडी स्त्रियो को भी फैशन की माया बहुत कम व्यापी है। उनमे कुछ ऐसी भी होती है जो क्षण मे आधुनिक और क्षण मे प्राचीनतम बन जाती है।

फैशन बदलते क्यों हैं ?—फैशन बदलने मे कई कारण है। एक तो पुरानी चीज की ऊब से बचने के लिए अकारण भी फैशन बदलते जाते हे। फैशन मे भी वैयक्तिक रुचि चलती है और उससे धीरे-धीरे परिवर्तन आरम्भ हो जाते है। फिर वे ही फैशन बन जाते हे। जिस प्रकार प्राकृतिक परिवर्तन होते हे उसी प्रकार फैशन के भी परिवर्तन होते हे। फैशन के परिवर्तन में 'महाजनो येन गत. स पन्थः' का नियम अधिक चलता है। हमारे यहाँ गाधी टोपी, जवाहर वास्कट, कर्जनशाही मूँछे, जोधपुरी ब्रीचेज, जयपुरी साफा व्यक्ति और स्थान के नेतृत्व के द्योतक है। जीवन मे सफल आदमियो का अधिक अनुकरण किया जाता है। लोग अज्ञात रूप से उसकी सफलता और पोशाक से सम्बन्ध-सा जोड़ने लगते हैं।

फैशन के वदलने का एक मुख्य कारण यह भी होता है कि जब बहुत से साधारण लोग एक फैशन का भद्दा अनुकरण कर उसे वदनाम कर देते हे तव वडे आदमी अपनी असाधारणता कायम रखने के लिए कोई नया फैशन धारण कर लेते है और गरीव आदमी उनके साथ कदम मिलाकर नही चल पाते। वेचारे छोटे आदमी जव तक अपने को विलकुल न वदल लें तव तक फैशन का अनुकरण नही कर सकते। अकेले फेल्ट हैट या गाधी टोपी अथवा अंग्रेजी वाल से फैशन नही वनता। फैशन के लिए सागोपागता चाहिए। वह वेचारे गरीव लोग नही ला सकते। फैशन के लिए धन भी आवश्यक होता है किन्तु उससे अधिक सुरुचि वाछनीय है। जो लोग जीवन की कला जानते है, जिनको रहने का सलीका मालूम है, वे लोग थोड़े पैसों मे अच्छा फैशन वना लेते है।

फैशन के वदलने मे शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता रहती है। पत्र-पत्रिकाएँ, सिनेमा वगैरह भी फैशन के प्रचारक होते है।

फैशन मे यद्यपि हमेशा सुविधा का ख्याल नही रखा जाता, तथापि वह भी फैशन के वदलने मे काम करती है। चौडी टो के जूते, चप्पले, साड़ी, गाधी टोपी, वुशशर्ट आदि सुविधा के कारण अस्तित्व में आए। गाधी टोपी श्वेत होने के कारण पवित्रता की द्योतक तो है ही (अव चाहे उसका वह गुण तिरोहित हो गया हो), धुल जाने के कारण वह साफ भी रहती है। फैल्ट कैप कीमती अवश्य होती थी, किन्तु व्रुश से भी उसकी धूल साफ नही होती थी और साधारण लोगो मे सिर के तेल की चीकट वीभत्सता उत्पन्न कर देती थी। पैन्ट की मुहरी के छोटे-वड़े होने मे सुविधा और सौन्दर्य दोनो की ही कार्यशीलता रहती है। कम चौड़ी मुहरी से साइकिल में सुविधा अवश्य रहती है किन्तु पैदल चलने मे चौड़ी और ऊँची मुहरी ही सुविधाजनक होती है।

फैशन के पीछे हमारे वदलते हुए आदर्शो और सौन्दर्य का भी हाथ रहता है। नारी की गुलाव के झामे से खरोच पडने वाली सुकुमारता का इतना मान नही है, वे पुरुषो के समकक्ष आना चाहती है, इसलिए कटि की क्षीणता का कृत्रिम साधनों से नही वरन् स्वास्थ्य के नियमों से सम्पादन किया जाता है। वदन का खुला या ढका रहना भी हमारे नैतिक आदर्शो पर निर्भर रहता है।

दूसरे देशों के सम्पर्क ने भी फैशन के क्षेत्र में उलट-पुलट की है। यूरोप हमारे फैशन का गुरु रहा है। अव यह दासता छूटती जा रही है, किन्तु स्थानीय स्थिति वहाँ के फैशन मे भी रद्दोवदल कर देती है।

फैशन के पीछे मानसिक वृत्तियाँ—फैशन के पीछे अनुकरण की तो चालक शक्ति है ही, किन्तु उसमें प्रदर्शनवाद भी काम करता है। फैशन में शरीर को शीतोष्ण से द्वन्द्वातीत बनाने की आवश्यकतापूर्ति रहती ही है किन्तु उसका उद्देश्य शरीर को उभार मे लाना भी होता है। फैशन बहुत-कुछ मानसिक दरिद्रता का भी सन्तुलन कर देता है। वह एक प्रकार से मनुष्य को हीनता के भाव से बचाए रखता है। जो लोग नए विचार समाज मे लेकर नही आते है, वे अपने ट्रङ्क से नए-नए सूट निकाल कर समाज को अपनी अमीरी से आतकित कर देते है। बस, गँवारूपन से बचने की आवश्यकता है। फैशन मे सास्कृतिकता वाछनीय है क्योकि यदि उसमे सस्कृति की अभिव्यक्ति नही तो वह कुछ नही। अनुचित प्रदर्शन भी हँसी का कारण बन जाता है। कम जाडे मे ओवरकोट पहनना एक अव्यक्त मुस्कराहट का द्योतक होता है। फैशन का अनुकरण स्वेच्छा का अनुकरण होता है, इसलिए वह अखरता नही है। इसमे व्यक्ति के व्यक्तित्व और समाज के साथ एकरूपता की इच्छा दोनों की तुष्टि होती है। मनुष्य किसी के पीछे नही रहना चाहता है। वह सामाजिक जीव है। वह 'जैसा देश वैसा भेष' के सिद्धान्त का अनुयायी होता है किन्तु फैशन मे किसी सीमा के भीतर उसके अस्तित्व का भी स्थान रहता है।

सुरुचि की आवश्यकता—आदमी अनुकरणमात्र से फैशनेबिल नही बनता है। उसमें लेखक की-सी शैली (स्टाइल) रहती है। बिहारी की नायिका की भाँति—'वह चितवन औरे कछू जिहि वश होत सुजान'—फैशन मे भी व्यक्ति की सुरुचि उसको साधारण की श्रेणी से ऊँचा उठा देती है। आजकल प्रजातन्त्र में फैशन के लिए किसी को रोक-टोक नही, 'नाउओ की बरात मे सब ठाकुर ही ठाकुर होते है', फिर भी घोड़े-गधे का अन्तर रहता है। फैशन आकृति की कमी को बहुत अश मे पूरा कर देती है किन्तु आकृति फैशन को भी चमका देती है। आकृतिवान जो कुछ पहन लेते है वही अलंकार बन जाता है—

'किमिव हि मधुराणा मण्डनं नाकृतीनाम्'

—अभिज्ञानशाकुन्तलम्

'कहा न भूषन होइ जो रूप लिख्यो विधि भाल'

[*'साप्ताहिक हिन्दुस्तान'*, २० दिसम्बर, १९५३]

प्रोपेगैण्डा

आधुनिक युग का शक्तिशाली अस्त्र

प्रचार शब्द का पर्याय 'प्रोपेगैण्डा' अँग्रेजी के उन शब्दो मे से है, जो शिक्षित या अर्द्धशिक्षित लोगो द्वारा हिन्दी मे भी विना किसी रोकटोक के प्रयोग मे आते है। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग पोप अर्बन अष्टम द्वारा सन् १६३३ मे हुआ था। पहले-पहल वह धर्म-परिवर्तन अथवा धार्मिक-निष्ठा को दृढ़ बनाने के अर्थ मे प्रचार-हेतु प्रयुक्त होता था। फिर राज्यो के सीमा-विस्तार की भाँति अर्थ-विस्तार से वह सभी प्रकार के प्रचार पर लागू होने लगा। 'प्रोपेगैण्डा' जातियो, सस्थाओ और व्यक्तियों क्या निर्जीव पदार्थों तक का भी होता है।

विज्ञापन और प्रचार—विज्ञापन इस युग मे प्रचार का प्रवल साधन है। नामी साह की भाँति विज्ञापनकर्त्ता दूकानदार कमा खाता है। दुनियाँ मे मूर्खो की कमी नही, विज्ञापन के सहारे पानी और धूल-मिट्टी भी विक जाती है। विज्ञापन और प्रचार मे यह अन्तर है कि विज्ञापन प्रचार की अपेक्षा अधिक खुला होता है। विज्ञापनकर्त्ता का उद्देश्य मालूम रहता है, वह संकेतों का प्रयोग नही या कम करता है। प्रचार करने वाले का लक्ष्य व्यापक और कुछ-कुछ भविष्य की ओर रहता है, वह सकेतो से अधिक काम लेता है और यथासम्भव अपने वास्तविक उद्देश्यो पर एक स्वर्णिम आवरण डाले रहता है। वह उपनिषदों की भाषा मे सत्य को हिरण्मय पात्र में ढककर रखता है।

व्याख्या—विज्ञापन की अपेक्षा प्रचार का ध्यान मनुष्यों के मानसिक झुकाव, प्रेम, प्रशसा या घृणा तथा उन भावो से प्रेरित कार्यो और उनसे उत्पन्न होने वाले फल की ओर अधिक रहता है। उसका प्रभाव क्रमशः और सचयशील अधिक होता है। कभी-कभी विज्ञापनों मे प्रचार भी मिला रहता है, जैसे चाय के विज्ञापनो मे। वहुत से विज्ञापन तो काठ की हाँडी या बूर के लड्डुओ की भाँति एक व्यक्ति को एक ही वार अपने जाल में फंसा सकते हैं। प्रचार का प्रभाव कुछ अधिक स्थायी और क्रियोन्मुख होता है।

प्रचार और 'सेन्सर' (काट-छाँट) मे भी अन्तर है। 'सेन्सर' का कार्य निषेधात्मक है, प्रचार भावात्मक है। 'सेन्सर' झूठे प्रचार और झूठी

खबरों को रोकता है; यह एक प्रकार से ब्रेक (रोक) का काम करता है और प्रचार भावों के प्रसार और कार्यो के संचालन को गति देता है।

विज्ञापन और प्रचार का अन्तर जानने के बाद हम प्रचार की व्याख्या कुछ अधिक सुविधा के साथ कर सकेंगे। प्रचार लोकमत को बनाने या उसमें परिवर्तन करने अथवा उस पर नियन्त्रण करने के अथवा लोगो मे नए विश्वासो, विचारों या मूल्यों के प्रचार और उनके द्वारा एक पूर्व-निश्चित रूप-रेखा के अनुकूल कार्य-कलाप को प्रेरित करने के निमित्त विचारपूर्वक आयोजित सकेतो, प्रतीकों या मानसिक चित्रो, नारों अथवा ऐसे ही मनोवैज्ञानिक साधनों को प्रयोग मे लाने को कहते है।

कुछ उदाहरण—'रोज चाय पीयो और बहुत दिन जियो', 'प्रत्येक समय चाय का समय है', 'गरमियों मे गरम चाय ठडक पहुँचाती है,' 'चाय शुद्ध भारतीय पेय है' ऐसे वाक्यो मे चाय का विज्ञापन तो कम होता है, किन्तु लोगों को चायमनस्क बनाने की प्रवृत्ति अधिक रहती है। इसी प्रकार बी० सी० जी०, स्वदेशी आदि का प्रचार किया जाता है। देश के रक्षार्थ हवाई जहाज तथा अन्य युद्ध-सम्बन्धी सेवाओं मे भरती होने का प्रचार किया जाता है, जिससे लोग उनकी ओर झुके। श्रम-दान, मकानों और मुहल्लों आदि की सफाई, मच्छरों से बचने, खुली हवा में रहने आदि का प्रचार किया जाता है, जिससे कि लोगों की स्वस्थ जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति बढे या लोग शारीरिक श्रम का गौरव समझें या देश की रक्षा में भाग ले। प्रचार अच्छा भी होता है और बुरा भी। पाकिस्तान भी अपने देश के लिए बहुत सा अच्छा प्रचार करता है, किन्तु भारत के प्रति घृणा का प्रचार करने में उसने दक्षता प्राप्त की है। हिटलर का यह विश्वास था कि झूठ को बार-बार दुहराने से वह सच का रूप धारण कर लेता है। आठ-दस ठगो ने मिलकर बकरी के वच्चे को कुत्ता बना दिया था और गड़रिये को अपने आत्म-निश्चय के विरुद्ध भी उसे ठगों के लिए छोडना पडा था। यही प्रचार का प्रताप है। यह ठीक है, किन्तु जो झूठ बिलकुल सफेद होता है वह अपने उद्देश्य में सफल नही होता है। जहाँ पाकिस्तान की ओर से यह कहा जाता है कि 'भारत मे मुसलमानों के खून से होली खेली जाती है,' 'जमीन लाल हो रही है,' वहाँ कोई भी बुद्धिमान पुरुष आँखे खोलकर देख सकता है कि भारत के प्रत्येक शहर मे मुसलमान स्वस्थ और निर्भय जीवन व्यतीत कर रहे है। खून की होली का प्रचार साल भर से चल रहा है, फिर भी उनकी जनसख्या मे कमी नही हुई; यही इस झूठ का उत्तर है।

खैर, उनका काम उनके साथ है, हमारे यहाँ तो सब जातियों को अभय-दान दिया गया है।

मनोवैज्ञानिक पक्ष—प्रचार 'रसरी आवत जात ते सिल पर होत निसान' की नीति मे विश्वास करता है। वह सकेतों द्वारा व्यञ्जना-शक्ति से अधिक काम लेता है। व्यञ्जना का अर्थ आधा खुला और आधा ढका होता है। खुले के सहारे ढके का भी प्रभाव पडने लगता है। उसमे मन रमाने की अधिक सामग्री होती है। प्रचार में आत्म-रक्षा, धर्म-रक्षा, देश-हित आदि की प्रारम्भिक प्रवृत्तियों को अधिक उत्तेजना दी जाती है। किसी सस्था या जाति या व्यक्ति के अनुकूल या प्रतिकूल प्रवृत्ति जागृत करने से पहले उसके द्वारा देश, जाति, समुदाय के प्रति होने वाले आर्थिक या सामाजिक अथवा धार्मिक हित वा अनहित की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है। पाकिस्तान नहरी पानी के नियन्त्रण के कारण वहाँ की सूखी हुई फसलो का चित्र उपस्थित कर भारत के प्रति घृणा जागृत करता है। प्रचार करने वाले लोग पेचीदा प्रक्रिया नही देते, वरन् वे विवेचनीय पक्ष आर्थिक, सामाजिक या धार्मिक हानि-लाभ के शब्दो मे दो-टूक करके दिखा देते है। प्रचार प्रायः एकपक्षीय होता है। उसके शिकार प्रायः भूल जाते है कि जीवन इतना सरल नही है कि उसके सम्बन्ध मे इदमित्य निश्चित रूप से कहा जा सके। हर एक बात के कृष्ण और शुक्ल दो पक्ष होते हे। एक पक्ष पर ही बल देना एकांगिता है। प्रत्येक विचारशील मनुष्य को एकांगिताओं से बचना चाहिए।

सक्षेप मे हम इसके मनोवैज्ञानिक पक्ष को इस प्रकार व्यक्त कर सकते है—

(१) प्रचार का सम्बन्ध मनुष्य की किसी मौलिक आवश्यकता या इच्छा से होता है।

(२) प्रचार मे बुद्धि का तो अभाव मात्र रहता है, किन्तु मनोवेगों को उत्तेजना दी जाती है, क्योंकि उसका सम्बन्ध केवल मत-परिवर्तन से ही नही होता वरन् क्रिया से भी होता है। क्रिया के लिए आवश्यक शक्ति-स्रोत मनोवेगों पर ही निर्भर रहता है। बुद्धि हमको मार्ग निश्चित करने में सहायक होती है। कार्य मे उत्साह मनोवेगों द्वारा ही आता है।

(३) विवेच्य विषयो को सीधे से सीधे शब्दों में दो-टूक कह देना प्रचार का एक वांछनीय गुण है। इससे सुनने वाले या पढने वाले को अपने आगे का रास्ता बिलकुल साफ दिखाई देने लगता है। श्रोता पेचीदगियाँ और तार्किक भूलभुलैयों में नहीं पड़ना चाहता।

(४) सतत् पुनरावृत्ति द्वारा प्रचारक प्रभाव को जमाने और दृढ़मूल करने का प्रयत्न करता है। एक बात को बार-बार दुहराये जाने से एक प्रकार का मानसिक नशा उत्पन्न हो जाता है, जो श्रोता को दुनिया की और बातों से बेखबर कर देता है। सुनने वाले के सामने जब दूसरा पक्ष नही आता तब विचारो की पुनरावृत्ति और भी सफल होती है। झूठ का यदि प्रतिवाद न किया जाय तो सुननेवाला उसको प्रचारित बात की निषेधात्मक पुष्टि या गवाही समझता है। बहुत से लोग भारत के इसी शिष्ट मौन का लाभ उठाकर अपनी बात को सत्य समझने का आत्म-सुख अनुभव करते है।

(५) सीधे कथनों की अपेक्षा व्यञ्जनाएँ और सकेत अधिक लाभदायक होते है।

(६) जब एक बार मानसिक झुकाव पैदा हो जाता है तब सीधे कथन भी प्रभावशाली होते है। एक बार पूर्व-निर्णय की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाने पर अतिरंजित दोषारोप, मिथ्या कथन, सब ग्राह्य हो जाते है। पाकिस्तान अपने श्रोताओं की भारत के विरुद्ध पूर्व-निर्णयपूर्ण मनोवृत्ति की ग्राहकता का लाभ उठाकर मनचाहे आरोप करता है। ग्राहक मन सब बातों का विवेचना-शून्य होकर स्वागत करता है।

(७) प्रचार मे व्यापक नारो या गढे-गढाये शब्दो का प्रयोग किया जाता है। नारो मे कुछ अधिक साकेतिकता रहती है। 'धर्म खतरे मे है', 'मजदूरो की हड्डियों पर वैभव के भवन खडे किये जाते है,' 'ये विचार दकियानूसी हैं', 'यह मानसिक गुलामी है', 'यह साम्प्रदायिकता है', 'यह फिरकापरस्ती है', 'यह टट्टी की ओट शिकार खेलना है', 'हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और होते है' ऐसी शब्दावली का प्रयोग कर दूसरे की बेईमानी, धोखेबाजी और अनुचित हरकतों के सकेत सहज मे दिए जाते है। इन वाक्यो द्वारा जो चित्र उपस्थित किए जाते हैं वे सहज मे नही धोए जा सकते।

प्रचार के साधन—(१) मंचीय *व्याख्यान*—प्रचार के लिये नेताओ और वक्ताओं के व्याख्यान बहुत काम करते है। व्याख्यान सुनने के लिए जो भीड़ इकट्ठी होती है, उसकी सामूहिकता अपना मनोवैज्ञानिक प्रभाव रखती है। लोगों की भाव-भंगी एक-दूसरे को प्रभावित करती है और श्रोतागण एक भाव-लहरी मे बह उठते है। कुशल वक्ता के धारावाहिक भाषण मे तर्क का बाँध टूट जाता है और जनता एक प्रवाह मे बह उठती है।

(२) पत्र-पत्रिकाएँ—बुद्धिपरक व्यक्तियों के लिए पत्र-पत्रिकाएँ मत-परिवर्तन मे बहुत काम करती हैं। उनका प्रभाव संचयात्मक होता है। पाठकों को अपने विचार से भी काम लेने का अवसर मिल जाता है। अग्रलेख, सम्पादक के नाम पत्र, विशेष लेख आदि सब लोकमत-निर्माण के साधन होते है। हैंडविल, ट्रैक्ट, पैम्फलेट आदि भी इस कार्य को सुविधा-पूर्वक करते है। इनके द्वारा किया हुआ कार्य अधिक स्थायी होता है।

(३) रेडियो—आजकल के युग का यह भी प्रचार-सम्वन्धी एक प्रवल साधन है, जो प्रायः सरकार द्वारा नियन्त्रित रहता है। इसका उपयोग सरकारें ही कर सकती है और वे अपने प्रचार करने में इसका थोडा-वहुत उपयोग करती भी है। भारत सरकार भी अपनी पंचवर्षीय योजना, ग्राम-सुधार, सहकारी समितियाँ, चकवन्दी आदि उपयोगी वातों का प्रचार करती है। युद्ध के दिनों मे सरकारे इसका एक-दूसरे के विरुद्ध खुलकर प्रयोग करती है। पिछले महायुद्ध मे जापान, जर्मनी आदि का प्रवल प्रचार होता था। आजकल भी अनेक राष्ट्र रूस, अमरीका, व्रिटेन आदि अन्य राष्ट्रो के हित के वहाने अपना प्रचार करते है। यह प्रचार सूक्ष्म और उच्च कोटि का होता है। कुछ सरकारे, जैसे हमारे पड़ोसी देश की सरकार, युद्ध की स्थिति उपस्थित हुए बिना भी दिल खोलकर युद्ध के दिनो का-सा विरोधी प्रचार करती है।

रेडियो की अपील यद्यपि सामूहिक नही होती, कुछ वाजार और छोटे होटलो के रेडियो को छोड़कर अधिकाश व्यक्ति घर मे ही उसे सुनते है, तथापि उसका फल सामूहिक जैसा ही होता है, क्योकि उसकी अपील सरकार का प्रमाणपत्र लेकर आती है।

हमारी सरकार रेडियो को व्यापारिक वनाने में विश्वास नही करती। यदि उसे व्यापारिक वना दे, फिर तो वह प्रत्येक पैसा देने वाले दल के प्रचार का साधन वन जाय और तू-तू-मैं-मैं का भी अखाड़ा तैयार कर दे। रेडियो विज्ञापनो द्वारा विदेशी वस्तुओं का भी प्रचार होने लगे। श्रीलका का रेडियो व्यापारिक प्रचार भी करता है।

(४) सिनेमा—पहले जो काम नाटकों के रङ्गमञ्च से होते थे, वे अव सिनेमा से होते है। सिनेमा द्वारा खेती, उद्योगादि के नए प्रयोग दिखाए जाते हैं। समाचार फिल्मो द्वारा देश मे होने वाले महत्त्वपूर्ण कार्यो के प्रति गौरव भावना उत्पन्न की जाती है। फिल्म द्वारा सामाजिक सुधार भी किया जाता है।

उपन्यास भी प्रचार का अच्छा साधन है। दहेज-प्रथा, जमीदारों के अत्याचार आदि को दूर करने मे उसने सराहनीय योग दिया है।

प्रचार एक शक्तिशाली अस्त्र है। उसका सदुपयोग और दुरुपयोग दोनो ही होते है। देश में स्वास्थ्य-नियमो के प्रचार करने, उद्योगो को लोकप्रिय बनाने, शारीरिक श्रम का गौरव बढाने, निरक्षरता-निवारण आदि अच्छे कामो मे उसका प्रयोग हो सकता है। घृणा का प्रचार उसका दुरुपयोग है। सेन्सर राष्ट्र के भीतर तो दुरुपयोग को रोकता है, किन्तु अभी अन्तर्राष्ट्रीय 'सेन्सर' की आवश्यकता है, जो रेडियो द्वारा घृणा के प्रचार को रोके।

['साप्ताहिक हिन्दुस्तान', १० अक्तूबर, १९५४]

रसराज हास्य

—और उसके विभिन्न रूप—

हास्य क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देना साहित्य की अपेक्षा दर्शन-शास्त्र का विषय अधिक है। इसके विश्लेषण के भ्रमरजाल में प्रवेश करना प्रेम-पयोनिधि मे धँसने के ही बराबर है जिसके लिए कहा गया है—'प्रेम पयोनिधि में धँसिकै, हँसिकै, कढिबो हँसि खेल नहीं है।'

हास्य क्या है और क्या नही है, अत्र कवयोऽपि मोहिता, फिर अस्मदादिकानांनराणा का वार्ता ? मैं गहरे मे जाकर तो नहीं—गहराई मे तो दम घुटता है—किन्तु कबीर की बौरी की भाँति किनारे बैठकर ही जो तथ्य निकाल सका हूँ, उनको पाठकों के सामने रखने की चेष्टा करूँगा।

रसराजत्व—महाकवि देव ने शृङ्गार को रसराज कहा है—

निर्मल शुद्ध सिंगार रस, देव अकास अनन्त।
उड़ि-उडि खग ज्यो और रस बिवस न पावत अन्त॥

उत्तररामचरित के रचयिता सस्कृत साहित्य के विभूति स्वरूप भवभूति ने करुण रस को मुख्यता दी है—एकोरसः करुण एव—आचार्यप्रवर विश्वनाथ ने अपने एक गुरुजन पितृदेव या पितृव्य धर्मदत्तजी का एक श्लोक—

रस सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥

उद्धृत कर अद्भुत रस को शीर्ष स्थान दिये जाने की ओर संकेत किया है।

उनकी-सी ही उक्ति का आश्रय लेकर हास्य को रसराजत्व के पद पर प्रतिष्ठित करते हुए कहा जा सकता है कि रस का प्राण आनन्द मे है, आनन्द का मूल प्रसन्नता है और प्रसन्नता हास्य में प्रत्यक्ष और मूर्तिमती हो जाती है।

दो दृष्टिकोण—हास्य रसराज हो या न हो, यदि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जीवित होते तो मेरी इन उक्तियों को ऐसे ही उड़ा देते जैसे हम रसवादियों के (मैं भी पाँचवे सवारो मे हूँ) परम गुरु आचार्य विश्वनाथ के गुरुजन की उक्ति को, किन्तु हास्य रस अवश्य है। रस की दृष्टि से देखें तो उसके दो पक्ष होते है—एक आलम्बन और दूसरा आश्रय। जिस पर हँसा

जाय वह आलम्बन है और जो हँसे वह आश्रय। आलम्बन मे कुछ ऐसी बात होनी चाहिए जो हमारी हास्य वृत्ति को उत्तेजित कर सके और हँसने वाले मे भी कोई ऐसा परिवर्तन हो, जो हँसी का रूप धारण कर सके।

हास्य के सम्बन्ध मे आलम्बन की दृष्टि से कई कल्पनाएँ है। उन सबमें किसी न किसी प्रकार की असगति, बेमेलपन, विपरीतता या उलटापन होता है। हास्य का मूल रस-ग्रन्थो मे इस प्रकार बतलाया गया है—

भाषा भूषन भेप जहँ, उल्टे ही कर भूल।
हँसी सु उत्तम मध्य लघु, कह्यो हास्य प्रतिकूल॥

उलटे का अर्थ बिलकुल सिर नीचे और पैर ऊपर (शीर्षासन) करना नही है; वरन् कोई बेमेल, औचित्य से शून्य, परिनिष्ठित, मार्ग से हटी हुई चीज या बात हो सकती है। (इसीलिए कभी-कभी उग्र सुधारको और आविष्कारको की हँसी उडाई जाती है।) मई-जून मे अमीरी और शहरीपन का दिखावा करने के लिए गुलूवन्द डालना (ऐसा प्रायः गाँव के लोग ही करते है), शहरी लोगो की ग्रामीण बोली अथवा ग्रामीणो की शहरी भाषा, मौलवियो और पडितो की अँग्रेजी शब्दावली, ऊँट से लम्बे पति के साथ नाटी स्त्री और पूतना की सी विशालकाय पत्नी के साथ पुत्रोपम पति, सब हास्य के कारण बनते है।

अनुपात से बाहर की चीज भी हास्यजनक होती है, जैसे बडे हॉल मे बड़ी तैयारी की सजावट के बाद सभापति, कोषाध्यक्ष, मन्त्री और सस्था के वेतनभोगी कर्मचारियो की बाप-पूत-बराती की सी या ढाक के तीन पात की सी श्रोता-मण्डली या किसी दम्पति की एक दर्जन से ऊपर सन्तान हास्य-जनक होती है।

बर्गसॉ का मत—आलम्बन की दृष्टि से दिए हुए मतों मे बर्गसॉ का मत विशेष महत्त्व का है। वह यह है कि जब मनुष्य अपनी नैसर्गिक स्वतन्त्रता को छोडकर यन्त्र की भाँति काम करने लगता है, तब वह हास्य का विषय बन जाता है। मनुष्य मे जो जीवन-शक्ति है वह उसे नई परिस्थितियो से अनुकूलता प्राप्त कराती रहती है। किन्तु कभी-कभी मनुष्य नई परिस्थिति मे भी पुरानी की भाँति प्रतिक्रिया करता है, तभी वह हास्य का विषय बन जाता है। जैसे, फोन पर एक इन्सपेक्टर साहब बात कर रहे थे। दूसरे छोर पर सुपरिन्टेन्डैन्ट पुलिस ने कहा कि मै एस० पी० बोल रहा हूँ। तुरन्त इन्सपेक्टर साहब का हाथ ऊपर उठकर फौजी सलाम की मुद्रा मे हो गया। देखने वाले हँस पड़े। जो मनुष्य रपट पड़ता है और अपना सन्तुलन नही कर

सकता है, वह भी इसलिए हँसी का पात्र होता है कि वह सचेतन मनुष्य को भाँति नही वरन् मशीन की भाँति काम करता है। यह भी प्रकृति-विरुद्ध या विपरीतता का ही उदाहरण है।

आश्रय की दृष्टि से—हँसने वाले के दृष्टिकोण को बतलाने वाले कई मत है। एक मत तो मनोविश्लेषण-शास्त्रियो का है। उनका कथन है कि हास्य व्यक्ति की यौन-वासना, घृणा, द्वेष, क्रोध आदि अचेतन मन के निचले स्तरों मे अवदमित वासनाओं का अपेक्षाकृत निरापद निकास का मार्ग है। और भी निकास के मार्ग है, यथा स्वप्न, दैनिक भूले आदि। जैसे किसी पटवारी की कलम गिर पड़ी और बेचारे किसान ने हृदय की दमित वासना को व्यक्त करते हुए कहा—'मुंशीजी आपकी छुरी गिर गई।" लोग जमीदार को हँसी मे 'जिमीमार', लार्ड चेम्सफोर्ड को 'चिलमफोड़' या 'करमफोड़' और जॉन मार्ले को 'जान मार ले' कह देते थे। एक गोपी की कुब्जा के प्रति दबी हुई ईर्ष्या का व्यग्य मे व्यक्तीकरण देखिये—

गोकुल में जोरी कोउ, पाई नाहिं मुरारि।
मदन त्रिभगी आपु हैं, करी त्रिभंगी नारि॥

अवदमित मादन भाव या यौन-वासना के निकास के लिए प्रायः सांकेतिक शब्दावली अथवा दो अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग होता है, जैसे यौवन के लिए बसन्त, वासना के लिए भूख आदि। वास्तव में बहुत से सांकेतिक आवरण कबीर की झीनी-बीनी चदरिया की भाँति पारदर्शक होते है। उनको यहाँ देना अश्लीलता का तट स्पर्श करना होगा। साकेतिक विनोद की क्षीण आभा राम-सीता के वार्तालाप की निम्नलिखित पक्तियों मे झलकती है। यह झलक अव्यक्त ही रहती यदि गुप्तजी ने यह कहकर कि 'मेरा विनोद तो सफल, हँसी तुम आहा' उसे व्यक्त न कर दिया होता—

यह सीता फल जब फलै तुम्हारा चाहा।
मेरा विनोद तो सफल, हँसी तुम आहा॥
(साकेत, पृष्ठ १६३)

फ्रॉयड के अनुयायी जिस वासना का अधिक अवदमन हानिकर मानते है और जिसको दबाने की सामाजिक औचित्यदर्शक को आवश्यकता पड़ती है, वह है काम-वासना और विशेषकर वर्जित रति। फ्रॉयडियन ऐसी वासनाओं को सबमें मानते हे। (यह विवाद का विषय है।) उदाहरण के लिए विहारी का प्रसिद्ध दोहा लीजिए। इसमे श्लेष या द्वयर्थकता का बड़ी विदग्धता के साथ सहारा लिया गया है—

चिरजीवो जोरी जुरै, क्यो न सनेह गँभीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥

वृषभानुजा के दो अर्थ है—वृषभ (बैल) की अनुजा (बहन) और वृषभानु (राधारानी के पिता) की जा (पुत्री)। हलधर के भी दो अर्थ है—एक तो बैल, क्योकि वह हल धारण करता है, और दूसरा बलराम, क्योकि हल और मूसल, जो खेती के प्रतीक है, उनके अस्त्र और प्रतीक थे। इस प्रकार बैल के द्वारा दोनो का भाई-बहन का सम्बन्ध हो गया। यह नायक-नायिका की उतनी नही, जितनी कवि के हृदय की दमित वासना का द्योतक है, ऐसा फ्रॉयडवादी कहेगे। कवि की आत्मा मुझे क्षमा करे, यह वर्ज्य रति की व्याख्या एक मनोविज्ञान के प्रोफेसर ने की थी। मैंने वैज्ञानिक व्याख्या के हेतु यह पाप अपने ऊपर ले लिया है। विज्ञान के निमित्त बहुत-सी जीव-हिसा होती है। इसको मै 'वैदिकी हिसा' ही कहता हूँ—'वैदिकी हिंसा हिसा न भवति।' कोई श्रद्धालु सज्जन मुझे बुरा-भला न कहे। एक डाक्टर प्रोफेसर ने तो बाल्मीकि रामायण के आदि श्लोक 'कौंचमिथुनादेकमवधी काममोहितम्' के आधार पर कवि के हृदय मे रति-भावना झाँकती हुई देखी है।

आश्रय सम्बन्धी अन्य कल्पनाएँ—घृणा और काम-वासना के निकास की कल्पना से सब प्रकार के हास्य की व्याख्या नहीं होती। दूसरों की भूल या विकृति मे जो हास्य जाग्रत होता है, उसमें लोग हँसने वाले के छिपे हुए अह और अपनी उच्चता की भावना को उत्तरदायी समझते है। प्रत्येक हँसने वाले मे थोडी-बहुत दबी हुई क्रूरता होती है। सज्जन दूसरो की भूलों और विकृतियों को सहृदयता की दृष्टि से देखते है और दूसरे लोग उन पर हँसते है। ऐसी हँसी कभी-कभी कलह-मूल भी हो जाती है। महाभारत में इसका ऐतिहासिक उदाहरण मिलता है। जब दुर्योधन युधिष्ठिर की राजसभा मे गया तब वहाँ के फर्श की चमक के कारण दुर्योधन ने स्थल को जल समझा और कपडे ऊँचे उठा लिए। द्रोपदी हँस पडी। यही तक गनीमत थी, पर वह और भी कह बैठी—'अन्धो के अन्धे ही होते है।' इसी का ज़वाब देने के लिए द्रौपदी को दुर्योधन ने नंगा करना चाहा, क्योकि अन्धो की सभा में नंगे होने मे क्या बुराई, फिर भी भगवान् ने उसकी लाज रख ली। (जैसी उसकी रखी वैसी सबकी रखे।)

उच्चता की भावना के अतिरिक्त कुछ धन्यवाद की सी भावना हास्य मे रहती है। इससे यह भूल हुई, शुक्र है परवरदिगार का कि मुझसे यह भूल नही हुई। यह भावना कम नही होने पाती।

एक और कल्पना है जो मेरी भी है। मेरे पूर्वज (वंश के पूर्वज नहीं, वरन् विचार के पूर्वज) उसको मुझसे पहले कह चुके हैं। उसका ज्ञान मुझे इसी साल हुआ है, इसलिए अब मैं उसे अपनी न कहूँगा। खैर वह यह है कि जब कोई विपरीतता या विकृति या बेढंगापन दिखाई पडता है, तब भारी अनिष्ट की आशका होती है, एक तनाव की स्थिति पैदा होती है। फिर यदि कोई भारी अनिष्ट नही होता तब वह तनाव दूर हो जाता है और प्रसन्नता मे हँसी निकल पडती है। यह कल्पना अधिक मानवता-परक है। वास्तव में करुण और हास्य में थोडा ही अन्तर रह जाता है। केले के छिलके से कोई रपट पडे और झाड-पोंछकर उठ बैठे तो लोग हँस पड़ते है, किन्तु यदि टाँग टूट जाय तो हास्य करुणा मे परिणत हो जाता है।

अप्रत्याशितता, विपरीतता, परिनिष्ठित मार्ग से हटा हुआ या बढा हुआ होना, ये सब बाते पीटी हुई लकीर पर चलने से पैदा हुई ऊब को एक सुखद और निरापद ढग से दूर करती है। जब अप्रत्याशितता अनिष्टकारिणी होती है (जैसे अकस्मात् कोई मोटर उलट जाय) तब तो वह करुणाजनक बन जाती है, किन्तु किसी को एक नए ढग से बेवक़ूफ बनाया जाय और उसकी अधिक हानि न हो तो हँसी आती है। चुटकुलों में प्रायः ऐसी अप्रत्याशित सुखद नवीनता रहती है। नवीनता सौन्दर्य और रमणीयता का भी मूल है और हास्य का भी—'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया.।'

एक चुटकुला लीजिए—

पत्नी—मुन्नी ने स्याही पी ली है।

पतिदेव—तो पैंसिल से लिख लो।

पत्नी—अजी कुछ दवा बताइए।

पतिदेव—ब्लाटिंग की गोलियाँ बनाकर खिला दो।

हास्य के प्रकार—हास्य के व्यापक रूप से कई प्रकार होते हैं। अपने यहाँ जो स्मित, हसित, प्रतिहसित और अट्टहास माने गए है वे तो परिमाण पर आधारित हैं। देव ने उत्तम, मध्यम और निकृष्ट रूप भी माने है। किन्तु गुण भेद से और भी कई प्रकार है। शुद्ध हास को तो हास्य ही कहेंगे, किन्तु जहाँ किसी दूसरे को बेवक़ूफ बनाने के लिए हास्य किया जाता है उसे उपहास कहेंगे। यह उपहास कटुता-सहित और कटुता-रहित हो सकता है। द्रौपदी ने दुर्योधन से जो हँसी की थी वह कटु उपहास की ही कोटि में आयगी।

ऊधौजी सूर की गोपियों के उपहास के अच्छे शिकार बने थे। वह खूब बनाए गए। कभी तो गोपियाँ कहती है कि आप फिर सुन तो आइए आपके मित्र कृष्णजी ने क्या कहा था। कही आपके सुनने-समझने मे तो भूल नही हुई? (व्यजना यह है कि आपकी अक्ल मे कुछ फितूर मालूम होता है।)

ऊधो जाय बहुरि सुनि आवहु।
कहा कह्यो है नन्द कुमार॥
यह न होय उपदेश स्याम को।
कहत लगावन छार॥

फिर वे बड़े भोलेपन से पूछती है कि कही श्यामसुन्दर ने तुम्हे बेवकूफ तो नही बनाया? जब उन्होंने तुम्हे यहाँ भेजा था तब वह कुछ थोडा सा मुसकराए तो नही थे?

ऊधो जाहु तुम्हे हम जाने।
साँच कहो तुमको अपनी सौं, बूझत बात निदाने।
सूर स्याम जब तुम्हे पठाये, तब नेकहु मुसुकाने?
(भ्रमरगीत-सार की भूमिका, पृष्ठ ५६)

हास-परिहास—आपसी हँसी-मजाक जो होता है उसे परिहास या हास-परिहास कहते है। उसमे हाजिर-जवाबी रहती है। इसके उदाहरण 'साकेत' के प्रथम सर्ग मे उर्मिला-लक्ष्मण सम्वाद मे मिलते है—

लक्ष्मण—किन्तु मैं भी तो तुम्हारा दास हूँ।
उर्मिला—दास बनने का बहाना किसलिए?
क्या मुझे दासी कहाना, इसलिए?
देव होकर सदा तुम मेरे रहो,
और देवी ही मुझे रक्खो, अहो।
तब कहा सौमित्र ने कि "यही सही,
तुम रहो मेरी हृदय-देवी सदा,
मै तुम्हारा हूँ प्रणय सेवी सदा।"
फिर कहा—'वरदान भी दोगी मुझे?' (साकेत पृष्ठ २२)

एक और लीजिए—

अवश अबला हूँ न मैं, कुछ भी करो,
किन्तु पैर नही, शिरोरुह तब धरो!

लक्ष्मण—साँप पकड़ाओ न मुझको निर्दये,
देखकर ही विष चढे जिनका अये !
अमृत भी पल्लव-पुटो मे है भरा,
विरस मन को भी बना दे जो हरा ।

(साकेत, पृष्ठ २३)

इसको अंग्रेजी में 'विट' या वाक्चातुर्य कहेंगे । इसमे शाब्दिक चमत्कार भी अधिक रहता है। अकवर-बीरबल के चुटकुले ऐसे परिहास के अच्छे उदाहरण है । एक बार अकबर की माला बीरबल के हाथ से जमुनाजी में गिर पडी । अकबर ने कहा—"माला दो ।" बीरबल ने तुरन्त उत्तर दिया—"बहने दो ।" इससे वर्जित रति के सिद्धान्त की बात भी उदाहृत हो जाती है ।

अन्य प्रकार—हास्य के कई और प्रकार भी है—शुद्ध साहित्यिक हास्य, जो केवल दिल की फालतू उमग निकालने के लिए (यह भी आश्रय-सम्बन्धी हास्य के सम्बन्ध मे कल्पना है) किया जाता है । इसके कई रूप होते है । एक संस्कृत का श्लोक लीजिए—

असारे खलु संसारे सारं श्वशुरमन्दिरम् ।
हरिः शेते क्षीराब्धौ हरः शेते हिमालये ॥

इसमे हास्य की बात यह है कि यह श्लोक 'असारे खलु ससारे' से शुरू होता है । ऐसा मालूम पड़ता है, कोई वेदान्त की बात कही जायगी; किन्तु एक साथ गिरती है तो श्वशुर-मन्दिर पर और फिर एक साथ उठती है तो हरि और हर दोनों को लपेटे मे ले लेती है ।

नीचे के छन्द मे भी महतो महीयान विष्णु, शिव, और ब्रह्मा के साथ क्षुद्रातिक्षुद्र खटमल जोड़ा गया है—

जगत के कारन, करन चारो वेदन के,
कमल में बसे वे सुजान ज्ञान धरिकै।
दोखन अवनि दुख सोखन तिलोकन के,
समुद्र जाय सोये सेज सेस करिकै ।
मदन जरायो संहार्यो दृष्टि ही मो सृष्टि,
बसे हैं पहार तेऊ भाजि हरबरिकै ।
विधि हरि हर वड़े इनसे न कोऊ तेऊ,
खाट पै न सोवै खटमलन सों डरिकै ॥

बात को आवश्यकता से अधिक बढा देना भी हास्य का कारण होता है। व्यंग्य चित्रो में भी यही बात होती है। जो लोग बात-बात मे तुकबन्दी करते है और कवि होने का आत्मगौरव वहन करने लगते है उन लोगो का श्री अन्नपूर्णानन्द ने 'महाकवि चच्चा' मे बहुत अच्छा खाका खीचा है। महाकवि चच्चा के गुरु के तोते को बिल्ली ले जाती है। वह अपने नौकर से कहते है—

अरे पनरुआ दौड बिलरिया ले गई सुग्गा।
तू मन मारे खडा निहारे जैसे भुग्गा॥

कवि बेनी को दया करके किसी दानी सूम ने आम दिए थे। उनकी छुटाई की अतिशयोक्ति हास्य का कारण बन जाती है—

चीटीं की चलावै को, मसा के मुँह आय जाय,
स्वास की पवन लागे कोसन भगत है।
ऐनक लगाये मरु-मरु के निहारे जात,
अनु-परमानु की समानता खमत है॥
'बेनी' कवि कहै और कहाँ लौ बखान करौ,
मेरे जान ब्रह्म को बिचारिबो सुगत है।
ऐसे आम दीने दयाराम मन मोद करि,
जाके आगे सरसो सुमेरु सो लगत है॥

महाकवि शकरजी ने नायिका की कमर की सूक्ष्मता की तुलना ब्रह्म से की थी। किन्तु बेनी कवि ने तो आम ही को ब्रह्म बना दिया। ठीक है, 'रसो वै सः', आम मे रस की पूर्णता होती है और इसी कारण उसे रसाल कहते है।

पैरोडी—पैरोडी भी हास्य का एक सुन्दर रूप है। इसमे अधिक साहित्यिकता रहती है। यह भी विपरीतता का एक प्रकार है। पैरोडी में कभी तो आधी या एक पक्ति मूल की होती है और शेष भाग उसके अनुकरण मे जोड़ा हुआ होता है और कही-कही केवल शैली तो एकसी होती है किन्तु विषय बदल दिया जाता है और सम्भवतः कुछ हलका भी कर दिया जाता है। 'आगे चले बहुरि रघुराई, ऋष्यमूक पर्वत नियराई' सुनते-सुनते जमाना हो गया। पिछली पक्ति मे यदि कोई कह दे—'पाछे लरिकन धूरि उड़ाई' तो एक सुखद वैविध्य आ जाता है। पण्डित हरिशङ्कर शर्मा ने प्रायः सभी कवियो की शैलियों का हास्यमय अनुकरण किया है। उन्होंने गोस्वामीजी के अनुकरण मे कुछ चौपाई मोटर के सम्बन्ध में लिखी है—

मंजुल मूर्ति सदा सुख देनी। समुझि सिहावहिं स्वर्ग नसैनी ॥

× × × ×

पीं पीं करत सुहावहि कैसे। मुनि मख संख बजावहिं जैसे ॥

बाहन कुल की परम गुरु, सबको सुलभ न होय।
रघुबर की जिन पै कृपा, ते नर पावहि सोय ॥

एक और पैरोडी दी जाती है। इसमे एक पक्ति तुलसीदासजी की है और दूसरी पक्ति ईश्वरीप्रसादजी की।

घन घमड नभ गरजत घोरा। त्रियाहीन कलपत मन मोरा।
दामिनि दमकि रही घन माही। जिमि लीडर की मति थिर नाही ॥

अभी रेडियो पर जो कवि-सम्मेलन हुआ था उसमे अंग्रेजी कवि टेनीसन की 'मौड' नाम की कविता के ब्रजभाषा, खडी बोली, अवधी, भोजपुरी आदि मे बड़े सुन्दर अनुवाद उपस्थित किए गए थे। वे उन-उन बोलियो की प्रकृति के अनुकूल थे।

व्यंग्य—व्यंग्य सोद्देश्य होता है। वह किसी विशेष व्यक्ति या प्रथा या सस्था के प्रति लक्ष्य करके लिखा जाता है। उसमे व्यजना का भी पुट रहता है। कही व्यग्य मे बात स्पष्ट भी कह दी जाती है। देखिए—

हरि सो भलो सो पति सीता को,
बन बन खोजत फिरे बंधु संग,
कियो सिधु बीता को।

× × ×

दूत हाथ तिन्हे लिखि न पठायो,
निगम ज्ञान गीता को।

(भ्रमरगीत-सार, ८३)

व्यंग्यों में कही-कही विपरीत लक्षणा का भी सहारा लेना पड़ता है। नन्ददास की गोपियाँ कुब्जा और कृष्ण पर बडा करारा व्यग्य कसती है—

यह नीची पदवी हुती गोपीनाथ कहाय।
अब जदुकुल पावन भयो दासी जूठन खाय ॥

परशुराम-लक्ष्मण-संवाद में भी बड़े सुन्दर व्यंग्य मिलते हैं—

कहेउ लखन मुनि सील तुम्हारा। को नहिं जान विदित संसारा ॥
मातहि पितहि उरिन भए नीके। गुरु रिन रहा सोच बड़ जी के ॥

रावण-अंगद-संवाद मे भी बडे मार्मिक व्यग्य मिलते है। इसमे व्याज निन्दा से काम लिया गया है—

नाक कान बिनु भगिनि निहारी। क्षमा कीन्ह तुम धर्म विचारी।।
लाजवन्त तुम सहज सुभाऊ। निज मुख निज गुन कहसि न काऊ।।

तुलसीदासजी ने रामचन्द्रजी से स्वय उनके ऊपर व्यग्य कराया है—

तुम आनन्द करो मृग जाये। काचन मृग खोजन ये आये।।

उपसंहार—हास्य के प्रकारो का यहाँ दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। हिन्दी साहित्य मे हास्य का अपेक्षाकृत अभाव होते हुए भी वह नितान्त दरिद्र नही है। हास्य-व्यग्य गद्य और पद्य दोनो मे प्रचुर मात्रा मे है। हमारे आलोचकप्रवर यह कहकर छुट्टी पा जाते है कि हिन्दी मे हास्य रस की कमी है। इसके कारणो पर रेडिओ तक पर वाद-विवाद भी हो जाता है। किन्तु हास्य के साहित्य की खोज और उसका वर्गीकरण नही हुआ है। बहुत-सा साहित्य आलोचको के अभाव मे उपेक्षित पडा है। अभी हमारे हास्य के साहित्य की ऐसी गति है जैसी किसी ऊबड-खाबड जगल की हो। उसके नमूने लेकर वर्गीकृत किए जाने की आवश्यकता है। सुव्यवस्था के कारण असम्पन्न घर भी सम्पन्न दिखाई देते है। जहाँ हमारे कवियो और लेखकों का यह कर्तव्य है कि हास्य के जिन प्रकारो की कमी है उनको पूरा करे, वहाँ आलोचको का यह धर्म है कि वे व्यापक फतवा न देकर कि हिन्दी में हास्य रस की कमी है, जो वर्तमान साहित्य है उसका उचित मूल्याकन और वर्गीकरण कर जो न्यूनताएँ हो उनका निश्चित निर्देश दे, नही तो यह कहना होगा कि—

गुन ना हिरानो गुनगाहक हिरानो है।

[*'साप्ताहिक हिन्दुस्तान'*, २१ मार्च, १९५४]

सूरदासजी और बाल मनोविज्ञान

हिन्दी के सगुण भक्त कवियों में सूर और तुलसी का नाम अग्रगण्य है। वे ही साहित्य-गगन के सूर और चन्द्र है। यद्यपि ये लोग भक्त कवि थे तथापि ये ससार से उदासीन न थे। इनके उपास्य और इष्टदेव संसार में आए थे और संसार के लोगों की भाँति ही किन्तु निर्लिप्त भाव से जीवन व्यतीत किया था। यद्यपि सूर और तुलसी ने अपने अपने इष्टदेवों की नरलीलाओं का वर्णन निजी उत्साह के साथ किया है तथापि सूर और तुलसी मे थोड़ा अन्तर है। तुलसी ने जहाँ एक सेवक की भाँति अपने स्वामी को सर्व-गुण-सम्पन्न मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप मे देखना चाहा है वहाँ सूर अपने इष्टदेव को एक घनिष्ट सखा की स्थिति मे उसकी माननीय अपूर्णताओ और कमजोरियों के साथ देखते है। इसीलिए गीतावली के बाल-लीला वर्णन में तुलसीदासजी सूर के निकट पहुँचते हुए भी उनकी बराबरी नही कर सके। बालक का सौन्दर्य उसकी स्वच्छन्दता और अटपटी चाल में ही है।

वल्लभ सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के कारण बालकृष्ण सूर के उपास्य और इष्ट है। सूर ने उनको अपनी कल्पना की आँखों से बड़ी श्रद्धा और रुचि के साथ बढ़ते हुए देखा है। जैसे एक मित्र अपने मित्र के कार्यों को देखकर प्रसन्न होता है वैसे ही सूरदास भी अपने सखा कृष्ण की लीलाओ को देखकर प्रसन्न होते है। बालक की कमजोरियाँ और ऊटपटाँग काम जिस प्रकार घर वालों के मोद और विनोद के कारण होते है वैसे ही श्रीकृष्ण का मुस्कराना, लड़खडाकर चलना, उछलना-कूदना, गाय चराना ग्वाल-बालो से छीन झपट कर खाना सूरदासजी के आनन्द और हृदयोल्लास का कारण बनते हैं। उनके हृदय की प्रसन्नता उनके वर्णनों में टपकी पड़ती है।

श्रीकृष्ण का जन्म हो गया है। उसका आनन्द और उल्लास व्रज की डगर और वीथियो मे बिखरा दिखाई देता है :—

> आज नन्द के द्वारे भीर।
> इक आवत, इक जात बिदा ह्वै, इक ठाढ़े मंदिर कै तीर।

× × ×

एकनि कौं गोदान समर्पत, एकनि कौ पहिरावत चीर।
एकनि कौ भूषन पाटम्बर, एकनि कौ जु देत नगहीर ॥

कृष्ण घर मे बडे होने लगते है। जसोदा माता उनको पालने में झुलाती है। पालने मे लेटे हुए बालकों की वृत्ति का कैसा सुन्दर वर्णन किया है। देखिए :—

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलराइ, मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै।
मेरे लाल कौ आउ निंदरिया, काहे न आनि सुवावै ॥
तू काहे नहिं बेगहि आवै, तोकौं कान्ह बुलावै।
कबहुँ पलक हरि मूँद लेत हैं, कबहुं अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै रहि, करि करि सैन बतावै ॥
एहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरै गावै।
जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ, सो नन्द भामिन पावै ॥

ऐसे शोभामय और गतिशील चित्र को देखकर जो सुख देवताओं और मुनियों को दुर्लभ है, उसे यशोदा माता के साथ ही सभी बाल-बच्चों वाले मनुष्यों को भी मिल जाता है। कवि की यही तो महत्ता है कि वह अपने हृदय के सुख के समान ही दूसरो में भी वैसी ही भाव लहरी और सुख तरगित कर देता है।

सूरदास जी यद्यपि आधुनिक ढग के मनोविज्ञान शास्त्री न थे, तथापि उनमे वैज्ञानिको की सी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति थी जो कि एक सच्चे वैज्ञानिक में उपस्थित है। वैज्ञानिक पहले निरीक्षण (Observation) से आरम्भ करता है और फिर अपने निरीक्षण को व्यापक बनाकर नियम बना देता है। सूर ने बालक के विकास की उन्ही सब दशाओं व स्थितियों का उल्लेख किया है जो आज के आधुनिकतम् वैज्ञानिक करते है। केवल उन दशाओं का पारिभाषिक और भारी भरकम नामकरण नही किया गया है। बाल मनोविज्ञान शास्त्री अपने निरीक्षण में बालक के सामाजिक विकास का ध्यान रखते हुए भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की समय-सारिणी भी रखते है कि किस महीने मे बालक विकास की किस अवस्था को पहुँचा। इस प्रवृत्ति का पूर्ण रूप तो नही पूर्व रूप अवश्य हमको सूर मे मिल जाता है। बालक आरम्भ में मातृ केन्द्रित होता है, क्रमशः वह अन्य घरवालो को पहिचानता है और घर के कार्यों द्वारा सामाजिक कार्यों मे दीक्षित हो जाता है। इस सामाजीकरण की समस्त अवस्थाओ को सूर ने अपनी पैनी दृष्टि से देखा है।

भूख की सहज वृत्ति वालक मे प्रारम्भिक महत्त्व रखती है। सूर ने स्तन-पान का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन किया है :—

गोद लिए हरि को नँदरानी, अस्तनपान करावति।

स्तनपान मे वालक की मातृ-निर्भरता परिलक्षित होती है। माता का दूध न मिलने पर वालक अपनी भूख वुझाने के लिए अपना ही अँगूठा चूसता है। इसमें भूख की सहज वृत्ति और प्रेरक तत्त्व (Hunger instinct and substitutive stimulous) की तृप्ति होती है। सूरदासजी ने इसका उल्लेख भी इस प्रकार किया है :—

चरन गहे अँगुठा मुख मेलत।
नन्दघरनि गावति, हलरावति, पलना पर हरि खेलत॥

इसी क्रिया को हमारे फ्रॉयडियन लोग 'सँक्स' का पूर्व रूप कहते है। अँगूठा का चूसना आत्मनिर्भरता का द्योतक है। भूख की तृप्ति के लिए यशोदा मैंया स्तनपान कराती हुई दिखाई गई है। छः महीने की अवस्था में बालक प्रायः अन्न खाने की स्थिति में आ जाता है। अपने यहाँ वह अन्न-प्राशन संस्कार के रूप में माना गया है। सूर की कवि दृष्टि उसका भी उल्लेख करना नही भूली है :—

(१) कान्ह कुँवर की करहु पासनी,
कछु दिन घटि पट् मास गए।
नन्द महर यह सुनि पुलकित जिय,
हरि अनप्रासन जोग भए।

(२) आजु कान्ह करिहैं अनुप्रासन।
मनि कंचन के थार भराए, भाँति-भाँति के वासन॥

बालक वडा होने लगता है। जैसे-जैसे वह वडा होता है माता अपनी कल्पना के नेत्रों से उसके विकास को देखने लगती है। उसी के साथ-साथ उसके हृदय का उल्लास भी वढता जाता है। घुटुरुवन चलना, दाँतों का निकलना, उसके वाद खड़ा होना और वोलना, यह सव क्रियाएँ प्रायः साथ-साथ ही होती है। माता एक-एक क्रिया को गिनकर सिहाती है और उनके विकसित होने की प्रतीक्षा उसके मन को उल्लसित करती है। देखिए :—

जसुमति मन अभिलाप करै।
कव मेरो लाल घुटुरुवन रेंगै, कव धरनी पग द्वैक धरै।
कव द्वै दाँत दूध के देखौं, कव तुतरे मुख वचन झरै।
कव नन्दहि वावा कहि वोलहि, कव जननी कहि मोहि ररै।

सूर ने इस अभिलाषा को चरितार्थ करते हुए दिखलाया है। छोटे-छोटे दूध के दाँतो की शोभा और अटपटी वाणी के माधुर्य के सम्बन्ध मे दो पदाश देखिए :—

(१) तनक-तनक-सी दूध दँतुलियाँ, देखौ, नैन सफल करौ आई।।
आनन्द सहित महर तब आए, मुख चितवत् दोउ नैन अघाई ।।
(२) मुख में मुख औरे रुचि बाढति, हँसत देत किलकारी।
अलप दसन, कलवल करि वोलनि, बुध नहिं परत विचारी।।

बालक के विकास क्रम मे पैदल चलना विशेष महत्त्व रखता है क्योकि पैदल चलना आत्मनिर्भरता का महत्त्वपूर्ण पाठ है और इस क्रिया मे पेशियो का गतिक्रम परिपक्वता (Maturation) को प्राप्त होने लगता है। बाल-कृष्ण पहले नन्द के सहारे चलते है, फिर नन्द बाबा अपना सहारा छुड़ाकर उन्हे स्वतन्त्र रूप से चलना सिखाते है। इस क्रमिक शिक्षा का स्वाभाविक वर्णन देखिए :—

गहे अँगुरिया ललन की नन्द चलन सिखावत।
अरबराइ गिरि परत है, कर टेकि उठावत।
× × × ×
कबहुँ कान्ह कर छाँडि, नंद पग द्वैक रिंगावत।

बालक को अपने पैरो चलना सिखाने का भी सूर ने अच्छा वर्णन किया है :—

सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरै पैया।
कबहुँक कुल देवता मनावति, चिरजीवहु मेरो कुँवर कन्हैया।
कबहुँक बलि को टेरि बुलावति, इहि आँगन खेलौ दोऊ भैया।

कृष्ण को चलते देख यशोदा की अभिलापाएं पूरी हो जाती है और उन अभिलाषाओं की पूर्ति से उनको अनुपम सुख मिलता है :—

कान्ह चलत पग द्वै द्वै धरनी।
जो मन में अभिलाप करति ही, सो देखति नंद घरनी।
रुनुक भुनुक नुपुर पग बाजत, धुनि अतिहीं मन हरनी।।

बालक के चलने में नूपुरो की रुनझुन भी सहायक होती है। उस ध्वनि से बालक मे एक अव्यक्त आत्म-प्रशसा और आत्म-सतोष का भाव जाग्रत होता है और उसके पैर और भी गति से आगे बढने लगते हैं। बालक का आत्म-संतोप सूरदास जी से छिपा न था :—

चलत लाल पैंजनि के पाइ।
पुनि-पुनि होत नयौ-नयौ आनंद, पुनि पुनि निरखत पाइ ॥

बालकों में एक प्रवृत्ति अपने सौन्दर्य पर मुग्ध होने की भी जाग्रत होती है जिसे अंग्रेजी में नार्सिसिज्म (Narcissism) कहते है। इसका भी यहाँ आभास मिलता है।

श्रीकृष्ण जी बोलना भी सीख जाते हैं। पहले माता पिता को ही सम्बोधन करना सीखते है :—

कहन लगे मोहन मैया मैया।
नंद महर सों बाबा बाबा, अरु हलधर सों भैया।

किसी को नाम लेकर पुकारना अपने से पृथक दूसरे के अस्तित्व की स्वीकृति में पहला कदम है और सामाजिक सम्बन्धों का भी इसी में सूत्र-पात होता है।

बालक के प्रेम के लिए माता पिता में होड सी रहती है। इस होड़ का फ्रॉयड ने तो बहुत लाभ उठाया है किन्तु हम साधारण मनोवैज्ञानिक प्रणाली से ही काम लेगे और उस होड से बालक का आकर्षण दोनों ओर मानेंगे। इस तरह बालक खिलौना सा बन जाता है। इस स्थिति का सूर ने बहुत ही स्वाभाविक वर्णन किया है :—

इतते नंद बुलाइ लेत हैं, उतते जननि बुलावैं री।
दंपति होड करत आपुस मे, स्याम खिलौना कीन्हो री ॥

अब श्रीकृष्ण बड़े हो गए है और साथ ही साथ कुछ ढीठ भी। बात नहीं मानते हैं। इसका वर्णन बहुत ही उचित शब्दों मे किया गया है :—

क्रीडत प्रात समय दोउ बीर।
माखन माँगत बात न मानत, झखत जसोदा जननी तीर ॥

बडे और छोटे भाइयों में जो प्रतिद्वन्द्विता रहती है और खाते पीने पर झगडे होते है उनसे माता पिता को एक प्रकार का सुख भी मिलता है। इन छोटे झगडों मे बालक की सग्रह करने की प्रवृत्ति (Acquisitive Instinct) तथा स्वसत्व स्थापन (Assertive Instinct) का भान मिलता है। सूरदासजी ने इस पद मे इन सहज वृत्तियों का भी वर्णन किया है :—

कनक कटोरा प्रात ही, दधि घृत सु मिठाई।
खेलत खात गिरावहीं, झगरत दोऊ भाई।

अरस परस चुटिया गहैं, बरजति हैं माई।
महा ढीठ मानै नहीं, कछु लहुर बडाई।
हँसि के बोली रोहिनी, जसुमति मुसुकाई॥

इसमें हमको आक्रमण की सहज वृत्ति (Aggressive Instinct) की भी क्षीण झाँकी मिलती है। यह सब सघर्ष प्रतिद्वन्द्विता के सघर्ष (Conflict of Rivalry) के द्योतक है।

अब श्रीकृष्ण मे बडे होने की इच्छा होती है और वह जसोदा-मैया से कहते है :—

मैया मोहि बडो करि लै री।
होउ बेगि मैं सबल सबनि में, सदा रहौ निरभय री॥

आधुनिक शिक्षा पद्धति मे सगीत के द्वारा बालक के विकास में और उसके सामाजीकरण (Socialization) की प्रगति मे सहायता मिलने का बहुत उच्च स्थान माना गया है। इस नाच और सगीत द्वारा उस साम्यमय स्थिति मे दीक्षा दी जाती है जो मानव जीवन मे सफलता प्राप्त करने के लिए और खतरो का सामना करने के लिए आवश्यक है। सूरदासजी भी इससे अनभिज्ञ न थे। उनके इस पद मे इसका विशद् वर्णन है :—

बलि बलि जाऊँ मधुर सुर गावहु।
अबकी बार मेरे कुँवर कन्हैया, नंदहि नाच दिखावहु॥

नन्द को नाच दिखाने का कहकर और उनको प्रसन्न करने का प्रलोभन देकर बालक को प्रोत्साहन दिया जाता है। इस सम्बन्ध मे एक पद और देखिए :—

जसुमति गान सुनै स्रवन, तब आपुन गावै।
तारी बजावत देखई, पुनि आपु बजावै॥

इस पद में बालक के अनुकरण (Imitative Instinct) की सहज वृत्ति का दिग्दर्शन कराया गया है। यशोदा के गाने पर और ताली बजाने पर कृष्ण भी गाते और ताली बजाते है। नूपुरों की ध्वनि उनके पैरो की गति को और भी गतिमय और तालमय बना देती है।

ध्वनि और नृत्य की गति के साम्य का एक और उदाहरण देखिए :—

त्यो-त्यो मोहन नाचे ज्यो ज्यो रई घमरकौ होइ (री)।
तैसियै किंकिन धुनि पग नूपुर, सहज मिले सुर दोइ (री)॥

दधि मंथन मे रई की सगीतमय घर्षण ध्वनि कृष्ण के नृत्य-गान

में संगति करती हुई दिखाई पड़ती है। इसमें सौन्दर्य और उपयोगिता दोनों का ही समन्वय हो जाता है।

वाल्यावस्था मे वालक के विकास में खिलौनों का भी विशेष महत्त्व है। वालक उनके लिए मचलते है, झगडते है, गोद में नही आते हैं। सूरदासजी ने अपने इष्टदेव को उनके अनुकूल ही एक बड़े खिलौने के लिए झगडते दिखाया है। सूर ने बालको की चमकदार चीजों के प्रति आकर्षण की प्रवृत्ति का भी ध्यान रखा है। इस नोचे के पद मे बालहठ की सुन्दर झाँकी मिलती है :—

मैया मैं तो चन्द खिलौना लैहो।
जैहो लोटि धरनि पर अवही, तेरी गोद न ऐहो॥

वालको मे उनकी हठ पूरी न होने पर जो निराशा का भाव (Frustration) उदय होता है उससे वालक में एक प्रकार की तर्क वितर्क और असहयोग की मनोवृति उत्पन्न हो जाती है। सूरदास ने इस वृत्ति का भी अपने वर्णन मे समावेश किया है :—

जैहो लोटि धरन पर अवही तेरी गोद न ऐहो।

वालक के सामाजीकरण (Socialization) मे यह आवश्यक है कि बालक की मातृ निर्भरता कम हो। इसीलिए उसको माता का दूध छोड़ने (Weaning) के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है। श्रीकृष्णजी वडे होकर जव माखन रोटी खाने लगे थे और वाहर लड़कों मे खेलने भी लगे थे तव भी माता का दूध पीते थे, सूर के वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता है। जव तक बालक का दूध नही छूटता है तव तक वह विस्तृत समाज का अंग नही वनता। जो वालक अधिक दिनों तक माता का दूध पीते हैं उनकी मनोवृत्ति अन्तर्मुखी (Introvert) होने लगती है। इस अन्तर्मुखी वृत्ति को दूर करना जरूरी होता है और दूध छुड़ाने के लिए हर प्रकार के यत्न किए जाते हैं :—

जसुमति कान्हहि यहै सिखावत।
सुनहु स्याम अव बडे भए तुम कहि स्तनपान छुडावति॥
व्रज लरिका तोहि पीवत देखत, हँसत लाज नहिं आवति।
जैहैं विगरि दाँत ये आछे, तातें कहि समुझावति॥
अवहूँ छाँडि, कह्यो कर मेरो, ऐसी वात न भावत।
सूर स्याम यह सुनि मुस्काने, अंचल मुखहि लुकावत॥

अच्छे दाँतों का बिगड़ना और लड़कों का हँसना ये ऐसे सामाजिक मूल्य हैं जिनके कारण वालक अपनी बुरी आदतें छोड़ सकते हैं। बालक को

अपनी सुन्दरता का बहुत ध्यान रहता है। इस पद की अंतिम पंक्ति मे बालक के स्वय लज्जित हो जाने का और मातृ आश्रय छोडने का बडा सुन्दर अनुभाव है। माता अपना दूध छुडाकर गऊ के दूध पर बालक को पहले ही से लाना चाहती थी और इसलिए चोटी बढने का प्रलोभन देती है। बालक भी अपने भोलेपन मे माता का विश्वास कर लेता है। वह दूध पीता है किन्तु माँ की बात की सचाई की भी परीक्षा करता है और बाल टटोलता है कि बाल बढे कि नही। इस सम्बन्ध मे नीचे के दो पद पठनीय है :—

(१) कजरी को पय पियहु लाल, जासौं तेरी बेनि बढै।
जैसे देखि और ब्रज बालक, त्यो बल बैस चढै।
यह सुनिकै हरि पीवन लागे, ज्यो-त्यो लयो लढै॥

(२) मैया कबहिं बढैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पियत भए, यह अजहूँ है छोटी॥

इसमे बालक का सहज विश्वास और परीक्षण बुद्धि की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

इसके पश्चात् सूरदासजी श्रीकृष्णजी के भोजनो का वर्णन करते है :—

जेंवत कान्ह नन्द इक ठौरे।
कछुक खात लपटात दोउ कर, बाल केलि अति भोरे॥

बालक घर के घेरे से बाहर निकलकर मित्रो व साथियो में पहुँच जाता है। अब इसको खेलकूद मे विशेष आनन्द आने लगता है क्योकि दूध छुड़ाने और माता के सम्पर्क के अभाव की क्षतिपूर्ति उसको अपने साथियो की संगति और सहयोग मे हो जाती है। यह तथ्य भी सूर की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नही बचा है :—

खेलत स्याम ग्वालनि सग।

खेल मे साथी चिढाते है, हराते है, खिसियाते भी हे। हार जाने पर बालक झगडालू हो जाता है। सूरदासजी ने श्रीकृष्ण के इस रूप का भी वर्णन किया है :—

सखा कहत हैं स्याम खिसाने।
आपहुँ आप बलक भए ठाडे, अब तुम कहा रिसाने।
बीचहिं बोलि उठे हलधर तब, याके माइ न बाप।
हारि-जीति कछु नैकु न समुझत, लरिकन लावत पाप।

आपुन हारि सखनि सो झगरत, यह कहि दियो पठाइ।
सूर स्याम उठि चले रोइ कें, जननी पूछति धाइ॥

बालक कभी-कभी अपनी कमियों के बतलाए जाने पर अपने साथियों से दूर रहना चाहता है और उसमे अन्तर्मुखी वृत्ति (Introversion) बढ़ने लगती है। एक प्रकार की तीव्र भावना से आत्म ग्लानि होने लगती है। यह दशा बालक के विकास मे हानिकारक होती है। कुशल माता-पिता बालक की इस परिस्थिति से कैसे रक्षा करते है इसका वर्णन सूरदासजी ने बहुत ही सौष्ठव के साथ किया है :—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायो।
मोसो कहत मोल को लीन्हो तोहि जसुमति कब जायो।
कहा कहो इहि रिस के मारे खेलन हो नहिं जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को है तेरो तात।
गोरे नन्द जसोदा गोरी, तू कत स्यामल गात॥

मे हीनताजन्य खीज से उत्पन्न बढती हुई अन्तर्मुखी वृत्ति का परिचय मिलता है परन्तु माता पिता बालक को इस हीन स्थिति से कुशलता पूर्वक निकालते है। उसका आत्म-भाव पुनः स्थापित कर देते है। सूरदास ने बाल कृष्ण का हीनताभाव दूर करने के लिए यशोदा मैया से बलदाऊ जी की बुराई कराई है।

बलदाऊ जनमत ही को धूत।

और कहलाया है :—

गो धन की सो हों माता तू पूत।

माता पिता को छोड़कर दूसरे के घर में रहने की बात बालक से छिपी नही रहती है। इसका वह स्वय भी अनुभव करता है और जरा-जरा से आरोपो की दूसरे घर का लड़का होने से ही व्याख्या करता है। वह जानने लगता है कि यह बात जिसके घर में रह रहा हूँ उस पर भी चोट करेगी और उसका फायदा उठाना चाहता है। सूर के कृष्ण भी माखन चोरी में इस बात का सहारा लेते हैं :—

मैया मेरी मैं नहिं माखन खायो।

श्रीकृष्ण को दो प्रकार से हीनता भाव था। एक तो पराए घर में रहने का और दूसरा छोटे होने का। यह आजकल के मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि घर का दूसरा लड़का इन हीनता भावो की क्षतिपूर्ति अज्ञात

रूप से करता रहता है। वह अपेक्षाकृत बुद्धिमान होता है। श्रीकृष्ण जी की बुद्धिमत्ता का परिचय हमको स्थान-स्थान पर मिलता है। ऐसे पारिवारिक जीवन के चित्र हमको सूर मे अनेको मिलते है। इन चित्रो मे कवि की पैनी दृष्टि और वर्णन कौशल का पता चलता है।

माता सामाजीकरण की क्रिया को और भी आगे बढाती है। वह बालक को अच्छे कपडे पहनने और साफ रहकर बाहर नन्द बाबा के पास जाँने को प्रोत्साहित करती है। देखिए :—

> काजर हाथ भरौ जनि मोहन, ह्वै है नैंना अति रतनारे।
> सिर कुलही पग पहिरि पेजनी, तहाँ जाहु जहाँ नन्द बबा रे।।

इस पद मे बच्चे का आत्म-भाव जाग्रत किया जाता है जिससे कि उसका व्यक्तित्व बने और दूसरो से मिलने मे वह अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का अनुभव करे।

बालकृष्ण दधि-माखन लुटाना ही नही जानते थे। वरन् उसके उत्पादन मे भी उचित भाग लेना चाहते थे। वह गाय चराने और दूध दुहने के लिए भी उतने ही उत्सुक थे जितने कि माखन खाने के। पहले वह गाय दुहना चाहते थे। नीचे के पद मे नए कार्यो के प्रति बाल-औत्सुक्य (Inquisitiveness) का बडा सजीव वर्णन है। बालक को सहसा अपने मन की ही नही करने दी जाती है :—

> मै दुहिहौ मोहि दुहन सिखावहु।
> कैसे गहत दोहनी घुटवनि, कैसे बछरा थन लै लावहु।
> कैसें ले नोई पग बाँधत, कैसें लै गैया अटकावहु।
> कैसे धार दूध की बाजत, सोइ-सोइ विधि तुम मोहि बतावहु।
> सूर स्याम सो कहत ग्वाल सब, धैनु दुहन प्रातहि उठि धावहु।।

इस पद के पढ़ने से प्रतीत होता है कि बालकृष्ण गाय दुहने की सभी प्रक्रियाओ से निजी निरीक्षण द्वारा सैद्धान्तिक परिचय प्राप्त कर चुके थे। अब वह उसका व्यावहारिक ज्ञान चाहते थे। शाम के समय चोट-फेंट लग जाने के भय से 'गो-दोहन सिखाने से उनके बडे लोगो ने इन्कार कर दिया और उनको सुबह बुलाया। 'सुरक्षा सर्व प्रथम' की बात है।

सुबह यशोदा मैया बालकृष्ण को जगाती है और उनको याद दिलाती है कि सुबह को गो-दोहन सीखने को कहा था। बालकृष्ण तुरन्त उठ बैठते हैं :—

जागहु - जागहु नन्द कुमार ।
रवि वहु चढ्यौ, रैंन सव निघटी, उचटे सकल किवार ।
साँझ दुहन तुम कह्यो गाय कौ, तातै होति अवार ।
सूरदास प्रभु उठे तुरत ही, लीला अगम अपार ।।

सूरदासजी अपने प्रभु के गो-दोहन मे वालप्रयास का वर्णन करना नही भूले । उनके असफल प्रयास को देखकर नन्द बावा हँस देते है । कृष्ण के वाल-कौतूहल देखने को व्रजनारियाँ भी जुड आई है । वाल-जीवन की यही अपूर्णता सूर की वाणी मे एक मनोहर यथार्थता ले आती है। उस समय गो-दोहन का विद्यारम्भ की भाँति उत्सव भी मनाया गया। ब्राह्मण बुलाए गए और वेदोच्चारण भी हुआ । कृष्ण नन्द वावा की आज्ञा लेकर माता से दोहनी माँगने जाते है :—

तनक कनक की दोहनी, दै दै री मैया ।
तात दुहन सीखन कह्यो, मोहि धौरी गैया ।
अटपट आसन वैठिकैं, गो-थन कर लीन्हौ ।
धार अनत ही देखिकैं, व्रजपति हँसि दीन्हौ ।
घरघर ते आई सवै, देखन व्रज नारी ।
विप्र वोलि आसन दियौ, कह्यौ वेद उचारी ।
सूर स्याम सुरभी दुही, सतनि हितकारी ।।

इस प्रकार के अनेको मनोरम चित्र सूर की विशद् वाणी में मिलते है । इनका मनोवैज्ञानिक महत्त्व है जो थोड़े से विवेचन करने पर स्पष्ट हो जाता है। मेरा कहना यह नही है कि सूर ने जान-बूझकर मनोविज्ञान के लिए उदाहरण उपस्थित करने के अर्थ ये चित्र प्रस्तुत किए है वरन् यह कि सूरदास जी एक सत कवि के नाते जीवन की उन सव दशाओं और स्थितियों से परिचित थे जिनके ऊपर मनोविज्ञान अपना भव्य भवन खडा करता है। पहले जीवन और साहित्य आता है पीछे मनोविज्ञान। जीवन और साहित्य एक दूसरे के पूरक होकर मनोविज्ञान के लिए सामग्री जुटाते हैं। हमारे मनोवैज्ञानिकों को चाहिए कि जहाँ वे विदेशी पुस्तकों और कुछ निजी निरीक्षण से उदाहरण देते है वहाँ वे साहित्य के ऐसे चारों खूंट ठीक वैठने वाले उदाहरणों को जैसे कि सूर, तुलसी, विहारी आदि में मिलते हैं, न भूले । इससे उनके सिद्धान्तो को वल मिलेगा और हमारे कवियों का भी गौरव वढ़ेगा ।

सामाजिक और राजनैतिक

अधिकारी और अधिकृत

सासु, ससुर, गुरु, मातु, पितु, भयो चहै सब कोइ।
होनो दूजी ओर को, सुजन सराहिय सोइ॥

—तुलसी दोहावली, ३६१

अधिकारी और अधिकृत भारत की ही नही, वरन् विश्व की समस्या है। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। दुनियाँ के जितने सघर्ष है, वे अधिकारों पर ही आधारित है। नीति और न्याय अधिकार के जनक, पोषक और सहायक है, किन्तु वह अभुक्तमूल की सन्तान की भाँति अपने जनक के जीवन पर ही आघात करता है। जितने अत्याचार और अनाचार अधिकार के नाम पर होते है, उतने अन्याय अनधिकारी भी करने मे सकुचाते है। नामी चोर मारा जाता है और नामी साह कमा खाता है। अधिकारी अधिकृत के पक्ष को न देखकर अपने अधिकार से पूरा-पूरा लाभ उठाने के नाम पर प्रायः न्याय की सीमाओ का अतिक्रमण कर जाता है। अधिकृत के पक्ष मे अधिकार को छोड़ देना तो विरले साहसी लोगो का ही काम है, किन्तु अपने को अधिकृत की स्थिति मे रखकर उसके दृष्टिकोण को समझने का भी कष्ट नही किया जाता है। अधिकृत लोग भी प्राय. दूसरी ओर की वात नही देखते है, किन्तु वे किसी अश मे क्षम्य कहे जा सकते है क्योंकि वे आर्त और दुःखी होते है। वे हमारी दया के पात्र है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते है—

अति आरत, अति स्वारथी, अति दीन दुखारी।
इनको विलग न मानिए, बोलहिं न विचारी॥

—विनय पत्रिका, ३४

प्रायः सभी लोग कभी न कभी और किसी न किसी अवस्था में अधिकृत की स्थिति मे रहे होगे, किन्तु अधिकार प्राप्त करते ही तज्जन्य मद से उत्पन्न विस्मृति की बाढ अधिकृत दशा के क्षीणातिक्षीण चिन्हो को भी धो-बहा देती है। अधिकारी अधिकृत की अवस्था को समझ सके, इसी दृष्टि से हम अधिकारी और अधिकृत की समस्या पर विचार करेगे। पहले हम राजनीतिक क्षेत्र को लेगे।

देश का देश पर अधिकार—अधिकारी देश अधिकृत देशों को अपने स्वार्थ के ही कारण दबाये रखना चाहते है, किन्तु उसे एक भव्य रूप देने

के लिए अधिकृत के हितों का बहाना ढूंढ़ निकालते है। गोरी जातियों के नैतिक भार की बात अब जरा धीमी पड़ गई है, किन्तु कुछ दिनो इसका बड़ा प्रचार रहा। अंग्रेज लोग भारत को लोकानुकम्पया ही नही छोड़ना चाहते थे—कभी भारतीयों की स्वराज्य के लिए अयोग्यता का बहाना लेते, तो कभी साम्प्रदायिक अनैक्य का। ईश्वर को बहुत-बहुत धन्यवाद है कि ब्रिटेन और फ्रास के सम्बन्ध में 'सबको सन्मति दे भगवान्' की प्रार्थना स्वीकृत हो गई। हाँ, ब्रिटेन के भारत छोड़ने का हमें पाकिस्तान के रूप मे भारी मूल्य चुकाना पड़ा। इसका भी विशेष गम न था; भाई-भाइयो मे बँटवारा होता है, किन्तु फिर भी भाई-भाई बने रहते है। कहावत है कि 'न्यारा पूत पड़ोसी बराबर'; किन्तु पड़ोसी पड़ोसी न कहकर 'दुश्मन' कहे तब क्या इलाज ! 'गत न शोचामि' कहकर सन्तोष करना पडता है। तथा-कथित आजाद कश्मीर रेडियो भारत पर हत्या और अत्याचार के आरोपों की प्रत्येक रात्रि को पुनरावृत्ति करता है। रेडियो उनका, जबान उनकी। चाहे जितना मिथ्याभाषण करे उनको अधिकार है—'मुखमस्तीतिवक्तव्य'। वे भी इस झूठ का राजनीतिक कारणो से आश्रय लेते है कि उनके धर्मबन्धु लोग भारत की ओर न झुके और यदि कभी मतदान हो तो वे पाकिस्तान के पक्ष मे मत दे। वे लोग अपने धर्म-बन्धुओ की गुलामी और बेबसी के लिए सरद आहे भरते है। किन्तु आक्रमण के समय वे भूल गए थे कि देश उनका है। उसको उन्होने मुक्ति का भव्य नाम दिया। वे लोग भारत की धर्म-निरपेक्ष नीति को एक विडम्बना कहते हे, किन्तु उसकी वास्तविक दृढ़ता की ओर ध्यान नही देते। स्वार्थ मनुष्य को अन्धा बना देता है।

भारत मे फ्रास को सुबुद्धि आ गई है। ट्यूनिसिया का मामला कुछ-कुछ सुलझाव पर आता जा रहा है, अलजीरिया का मामला अभी अटका हुआ है। मालूम नही पुर्तगाल को कब सुबुद्धि आएगी। अधिकार के नाम पर ही वह अपने उपनिवेशवाद का पोषण कर रहा है। नैतिकता और मानवता के अधिकारों को वह स्वीकार नही करता। राजनीति के खोखले अधिकारों को वह मान्यता देता है। भारत की समझौते और हृदय-परिवर्तन की नीति से वह लाभ उठाता है। उदाहरण से शिक्षा ग्रहण नही करता। बन्दर की भाँति अधिकार के शव को वह चिपटाए हुए है, किन्तु कभी तो उसे छोड़ना ही पड़ेगा।

बहुमत का अधिकार—देश के भीतर भी अधिकारी-अधिकृत का प्रश्न रहता है। बहुमतवाला दल शासन मे होता है। वह अपने ही सिद्धान्तों को जनता-जनार्दन की आवाज समझता है। दूसरे दलों की ईमानदारी और

देशभक्ति पर भी सन्देह किया जाता है। बहुमत का अधिकार कभी-कभी दूसरे पक्ष के सत्य की उपेक्षा कराता है। किन्तु धर्म-नीति यही है कि दूसरे दलों के सत्य को मान्यता दी जाय। मतदान का बहुबल वाहुबल ही होता है। यद्यपि अधिकांश मे बहुमत ठीक होता है, तथापि वह ठीक ही हो, इसका निश्चित आश्वासन नही। बहुमत के अतिरिक्त हमारे पास सत्य की कसौटी भी नही, किन्तु हमारे नेताओ को चाहिए कि वे निरपेक्ष भाव से दूसरों की बात मे जो सत्य के कण हो, उनको स्वय ही प्रकाश मे लाएँ। दूसरे दल के लोग प्रायः सत्य को अतिरञ्जित कर देते है, अथवा शासक दल की थोड़ी सी भूल से भारी लाभ उठाना चाहते है। यह ठीक होते हुए भी यह बात नही कि सत्य उनके पक्ष मे थोडे-बहुत अंश मे भी न हो। सुशासित देश में न तो बहुमत वाले दल को अपने बहुमत के अधिकार से लाभ उठाना चाहिए और न अल्पमत या अल्पसख्यक दल को अपनी क्षीणता और दुर्बलता का अतिरजित रूप दिखाकर विशेषाधिकारो के नाम पर बहुसख्यक दल को आतकित करना चाहिए।

ईश्वर को धन्यवाद है कि हमारे देश के दलों मे विस्फोटक मतभेद नही है। वे एक-दूसरे को समझते है और समय पर सहयोग करने को तैयार रहते है। शासक दल भी दूसरे दलो के सत्य से नितान्त बेखबर नही है, किन्तु एक-दूसरे का पक्ष समझने के सक्रिय प्रयत्न नही हो रहे है। व्यक्ति से दल बडा है और दल से देश वड़ा है, इस बात का लोग कम ध्यान रखते है। कभी-कभी मिथ्या स्वाभिमान भी सत्य की स्वीकृति मे बाधक होता है।

राज्य और व्यक्ति—यद्यपि राज्य अपने शासनाधिकार से व्यक्ति को शासित कर सकता है, तथापि शासनाधिकार की सीमाएँ है और व्यक्ति की स्वतन्त्रता की भी सीमाएँ है। शासनाधिकार को वैयक्तिक स्वतन्त्रता का एक उचित सीमा के भीतर मान करना चाहिए और व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्रता को सीमित रखकर शासनाधिकार की रक्षा करनी चाहिए। कुछ राज्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता का बिलकुल ध्यान नही रखते। वे अपने अधिकार के बल पर व्यक्ति से उसकी इच्छा के विरुद्ध भी काम कराने को तैयार रहते है। (लड़ाई के दिनो मे अनिवार्य भर्ती के समय वैयक्तिक स्वतन्त्रता का प्रश्न उठता है। अखबारो पर सेसर लगाने मे भी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का प्रश्न आता है।) व्यक्ति भी कभी-कभी अपनी स्वतन्त्रता के अधिकार का दुरुपयोग करते हुए देशहित का खयाल नही रखते है। करो के सम्बन्ध मे भी राज्य और व्यक्ति के अधिकारो का प्रश्न आता है ' व्यक्ति को स्वार्जित धन पर

पूर्ण अधिकार है। किन्तु यदि सरकार न ले तो शासन-प्रबन्ध कहाँ से चले ? और यदि शासन-प्रबन्ध के नाम पर व्यक्ति की सारी सम्पत्ति हड़प ले तो व्यक्ति को क्या लाभ ?

यहाँ पर भी अधिकारी और अधिकृत का प्रश्न आता है। इस क्षेत्र में भी एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की आवश्यकता है। नीति और न्याय का पक्ष प्रबल होना चाहिए, न बहुमत के सामान्य अधिकार का और न अल्पसंख्यकों के विशेषाधिकार का। यदि राज्य और व्यक्ति अपने-अपने कर्तव्यों का भी ध्यान रखे तो यह प्रश्न इतना उग्र न होने पाए। व्यक्ति-व्यक्ति के अधिकारो की सीमाएँ है; व्यक्ति और राज्य के अधिकारो की भी सीमाएं है और राज्य-राज्य की सलाह और सहायता की भी परिमिति है। इन सीमाओ की स्वीकृति शान्ति की ओर अग्रसर होना है। कभी-कभी सहायता के नाम पर स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया जाता है। सहायक को कुछ अधिकार अवश्य मिल जाते है, इस बात का ध्यान सहायता लेनेवाले को रखना चाहिए; किन्तु सहायता देने वाले का भी यह नैतिक कर्तव्य है कि वह सहायता के आधार पर प्राप्त अधिकारो की सीमा का अतिक्रमण न करे। अमरीका आदि सम्पन्न देशों को इस नीति का ध्यान रखना आवश्यक है।

जाति और वर्णभेद—गोरी और रंगीन जातियों का भेद तो कुछ उग्रता के साथ यूरोपीय देशो मे चल ही रहा है। वहाँ तो वर्ण-भेद राजनीतिक अधिकारो मे भी भेद डालता है। भारत मे राजनीतिक अधिकारो में तो वर्ण के आधार पर आजकल कोई भेद नही है, किन्तु सामाजिक क्षेत्रों मे यह भेद अब भी बना हुआ है। इस भेद को बनाए रखने के लिए कई आश्रय पकड़े जाते हे। कभी तो कहा जाता है कि उनका रहन सहन इतना अच्छा नही कि बराबरी का व्यवहार किया जाय (किन्तु इसके लिए यह नही सोचा जाता कि रहन-सहन के अच्छे न होने का उत्तरदायित्व हम ही तथाकथित उच्च वर्णों पर है), कभी कर्मवाद का सहारा लिया जाता है और तथाकथित निम्न जातियो के सम्बन्ध में अब भी कहा जाता है कि पिछले जन्मो के फल के कारण उन्होंने नीच योनि मे जन्म लिया है, अब उस व्यवस्था को उन्हें सहर्ष स्वीकार करना चाहिए। किन्तु उच्च वर्ग के ऐसे लोग जब बीमार पड़ते हैं, तब वे कर्मवाद के आधार पर सन्तोष नहीं करते और डाक्टरी सहायता के लिए व्यग्र हो उठते हे। जिस प्रकार रोगी को डाक्टरी सहायता देना हमारा कर्तव्य है, वैसे ही दलित वर्गों को ऊँचा उठाना भी

हमारा कर्तव्य है। जो लोग उच्च वर्ग के है वे निम्न वर्ग के लोगों की कठिनाइयों और उनके द्वारा सहे जाने वाले अपमानो का ठीक अनुमान नही कर सकते है—'जाके पॉय न फटी बिवाई, सो का जाने पीर पराई।' यहॉ भी दूसरी ओर की बात जानने की आवश्यकता है।

उच्च वर्ण के लोग समाज से प्राप्त उच्चता के अधिकारों को नही छोड़ना चाहते है। वैसे चाहे होटलो मे मास-मदिरा का सेवन करले, किन्तु नीच वर्ण के यहाँ खाना नही खायेगे और पान और पानी तक न स्वीकार करेंगे। चोरी, जुआ, व्यभिचार आदि इतने बडे पाप नही समझे जाते जितने ज्ञाति-पाँति के नियमो के उल्लघन। जूतो से स्थान अपवित्र नही होता, किन्तु किसी के रोटी रख देने से स्थान मे छूत लग जाती है। उच्च वर्ग के लोगो को अधिकार है कि तथाकथित नीच वर्ग के लोगो को डॉट सके। इस अधिकार को वे नही छोडना चाहते। दूसरो को अपमानित करने को ही वे अपनी उच्चता का प्रमाणपत्र समझते है। ऐसे लोगो के खिलाफ कानूनी अधिकार प्राप्त करना उचित नही है। कानूनी अधिकार से प्राप्त समता मे वह आनन्द नही, जो प्रेमप्रदत्त समता मे है। हमको उस प्रेम की समता का उपदेश और प्रचार द्वारा प्रयत्न करना चाहिए।

यद्यपि आज ऐसा समय आ गया है जब नौकर मालिक से सगर्व कह सकता है—'तुमसे हमको बहुत है हमसे तुमको नाहिं' तथापि अब भी मालिक की स्थिति नौकर से कुछ ऊँची है। नौकर की स्थिति पुराने जमाने मे भी कुछ अच्छी न थी। इसका प्रमाण हमको नीचे के श्लोक मे मिलता है जो नौकर को ही लक्ष्य करके लिखा गया मालूम होता है—

> मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा
> धृष्टः पार्श्वे वसति च तदा दूरतश्चाप्रगल्भः।
> शान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः
> सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः॥

नौकर यदि मौन रहे अर्थात् अधिक न बोले तो उससे कहा जाता है कि गूँगा है क्या ? और यदि बातचीत मे होशियार हो तो उसे खुशामदी या बातून कहा जाता है। यदि बिलकुल पास रहे तो कहा जाता है कि बडा ढीट है; हरदम सिर पर चढा रहता है; यदि दूर रहे तो कहा जाता है कि अनुत्साही है, कामचोर है। यदि वह शान्त रहे, तो डरपोक कहा जाता है और यदि बात को न सहे, तो कहा जाता है कि नीच है, जवाब पर जवाब देता है। सेवा-धर्म बड़ा कठिन है, योगियो के लिए भी अगम्य है।

वास्तव में नौकर को मालिक से भी अधिक संयमी और सन्तुलनशील बनना पड़ता है। उत्तर देने वाले नौकर को इतना ही खतरनाक बताया गया है जितना कि 'ससर्पे गृहे वासो'। बेचारे नौकर को सच्चे योगी और सन्त की भाँति सुख-दुख, मान, अपमान, शीतोष्णादि द्वन्दों से ऊपर उठना पड़ता है—'द्वन्दातीतो विमत्सरः'। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज जिस सन्त-स्वभाव को 'श्री रघुनाथ कृपालु कृपा ते' प्राप्त करना चाहते थे वह बेचारे नौकर को सहज मे ही प्राप्त हो जाता है। अन्तर केवल इतना रहता है कि ज्ञानी और भक्त ज्ञान द्वारा 'परुष वचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौगो। विगत मान सम सीतल मन·······परिहर देह जनित चिन्ता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो ॥' (विनय पत्रिका १७२) की स्थिति प्राप्त करता है और नौकर को मजबूरी और 'सम सीतल मन' तो नही कभी-कभी सन्तप्त मन से इसे प्राप्त करना पडता है। नौकर को भी वेदान्तियो की भाँति यथा-लाभ-सन्तोष का व्रत धारण करना पडता है, किन्तु उसके लिए 'मजबूरी का नाम सब्र है' लोकोक्ति अधिक रूप मे चरितार्थ होती है। कभी-कभी उसका सन्तप्त मन अर्द्ध-अस्फुटित शब्दो मे अपनी अभिव्यक्ति भी चाहने या करने लगता है। तभी वह 'कृतघ्न', 'बेअदब' और 'नमकहराम' आदि पद्वियों से विभूषित किया जाता है।

सारे नियम और सदाचार की सारी पाबन्दियाँ नौकर से अपेक्षित होती है। उससे अपने से अधिक बुद्धिमान और संयमी होने की आशा की जाती है। उसकी भूलें अक्षम्य समझी जाती है। हुक्म और निर्धारित कार्य-क्रम की सौमित्र-रेखा से अणु मात्र भी विचलित होने की स्वतन्त्रता उसे नही रहती। जिस काम को वह स्वय करता है, वही गैर-जरूरी हो जाता है। जरूरी और गैर-जरूरी के मानदण्ड हरवक्त बदलते रहते है। उसका एक स्वामी नही होता, घर का छोटा सा व्यक्ति भी उसका स्वामी होता है और सबके काम जरूरी होते हैं। आदेशो के सघर्ष मे वह बेचारा किंकर्तव्यविमूढ होकर रह जाता है। मालिक का आतंक इतना छाया रहता है कि मुँह की बात मुँह में ही रह जाती है। स्पष्ट न कहने के लिए वह दोषी ठहराया जाता है, किन्तु मालिक यह नही सोचते कि यह उनकी डाँट-फटकार का दोष है कि वह निर्भीकता से अपनी बात नही कह पाता है। यदि वह साहस बटोरकर अपने दुःख-सुख की बात कहता है या कभी उद्दण्डता से जवाब दे देता है तो उसे ही दोषी ठहराया जाता है। इसमें भी मालिक का ही दोष है।

मालिकों को चाहिए कि वे कामों के बढ़ाने में गुणन-क्रिया का जो

सदा अभ्यास करते रहते है, उसे छोडे। पर्व दिन आते हे, तब वेचारे नौकर पर इतना कार्य-भार बढ जाता है कि पर्व उसके लिए अभिशाप बन जाता है। मालिको को चाहिए कि वे कभी-कभी गुणन-क्रिया का पाठ भूलकर भाग और बाकी का भी पाठ पढा करे। स्वय ही नौकर का हाथ बटाया करे, जबान चलाने के लिए हाथ भी चलाया करे, नौकर को मारने के लिए नही, काम करने के लिए। मैं यह नही कहता कि नौकर को डॉटा-फटकारा न जाय। अवश्य डाँटा-फटकारा जाय किन्तु अपराध के अनुपात मे। डॉटे तो एक ही आदमी, न कि सारा घर का घर उसके पीछे पड जाय। एक ही बात को बार-बार घटे भर तक कहने मे कुछ अधिक वल नही आता, वरन् उसकी प्रतिक्रिया नौकर पर बुरी होती है। नौकर पर तो बुरी होती ही है, किन्तु नौकर के सुधारने के विफल उद्योग मे अपने मे कर्कशता, कठोरता, प्रगल्भता और दम्भ के बीज बोकर अपने तथा बाल- बच्चो के स्वभाव को खराब कर लेना होता है। इसके अतिरिक्त हरदम नौकर पर चिल्लाते रहने मे घर के वातावरण का स्वर-साम्य दूषित होकर कलह-पूर्ण सा लगने लगता है। लडके-बच्चो मे मिथ्याधिकार और अनुचित श्रेष्ठता की भावना आ जाती है। इसमे नौकर का नही, अपना ही नुकसान होता है। कलहपूर्ण, अशान्त वातावरण मे घर की सारी सास्कृतिकता और कलामयता नष्ट हो जाती है और वित्तोपार्जन के कार्यकौशल मे अन्तर पडने लगता है।

मै यह नही कहता कि नौकर निर्दोष, दूध के धोये होते है। नौकर चोरी करते है, झूठ बोलते है (यदि मालिक लोग डॉट-फटकार का आतक कम कर दे तो नौकर लोग कम झूठ बोले) और मालिक को सौदा-सुल्फ खरीदने मे धोखा भी देते है। मालिको को चाहिए कि वे बडी-बडी बातो पर अवश्य ध्यान दे। वे सचेत भी रहे किन्तु छोटी-छोटी बातो मे सन्देह-बुद्धि प्रकट करके नौकर के स्वाभिमान को आघात न पहुँचाएँ। मालिक यह भी सोच लिया करे कि वे स्वय कितने ईमानदार है। वडे आदमी रुपये-पैसे की तो कम चोरी करते है किन्तु सरकारी चीजो से काफी और अनुचित लाभ उठाते है। निजी काम के लिए दौरे का अवसर निकालते है, सरकारी मोटरों मे वन-भोज को जाते है और कभी-कभी गगा-स्नान भी कर आते है। अपना काम तो ईमानदारी से पचास प्रतिशत लोग भी नही करते हैं। जिन बाँटों से वे अपने काम को तोलते है, उन्ही बॉटो से नौकर के कामो को तोले। मालिक और नौकर सापेक्ष शब्द है। मालिक भी दूसरो के नौकर होते है। उन्हे सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत।'

नौकरों को भी यह समझना चाहिए कि नित्य मालिक ढूँढने के प्रयोग करना ठीक नहीं। 'दूर के ढोल सुहावने लगते है।' 'घर-घर मिट्टी के चूल्हे है।' जिसके यहाँ जितने दिन वे अधिक रह लेते है उतने ही वे मालिक की प्रकृति से परिचित हो जाते हे और मालिक उनकी प्रकृति से। मालिक भी मनुष्य होते हैं, उनको भी नौकर के प्रति मोह है। स्वामी और नौकर का सम्बन्ध पारस्परिक आदान-प्रदान का है। गोस्वामीजी तो दास्य-भाव की ही भक्ति चाहते है किन्तु उनके स्वामी भी करुणानिधान है। हमको भी करुणानिधान बनना चाहिए। श्री रामचन्द्रजी ने अपने को हनुमानजी का ऋणी कहा था।

पति-पत्नी—पति-पत्नी का प्रेम और सौहार्द का सम्बन्ध है, किन्तु इसमें भी अधिकारी और अधिकृत का प्रश्न उठ खड़ा होता है और पल्ला पतिदेव का ही भारी रहता है। सदाचार के सारे बन्धन स्त्रियों के लिए ही होते है। बहुत-सी स्त्रियाँ बेचारी रोटी-कपडे के नौकर की तरह काम करती हैं। पति के दाम्पत्य अधिकार और बच्चो के रोने के वात्सल्य अधिकार की दो रज्जुओं से मथित होकर रई की भाँति वह इधर से उधर घूमती रहती है। गुप्तजी ने ठीक ही कहा है—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखो में पानी॥

आँचल का दूध वात्सल्य का प्रतीक है और आँखों का पानी दाम्पत्य-प्रेम का। दोनों ही 'सहज अपावन नारि' (?) को पावनता प्रदान करते है। स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध पारस्परिक आत्मसमर्पण का है, अधिकारी और अधिकृत का नही। यह पुरुषो का स्वार्थ है कि इस पावन सम्बन्ध को अधिकारी और अधिकृत का सम्बन्ध बना लिया है। समाज के कल्याण और विकास के लिए वे दोनों सहयोग के बन्धन में बंधते हैं। दोनो ही एक दूसरे को नियन्त्रित रखने का समान अधिकार रखते हे। यह नियंत्रण प्रेम का नियत्रण है—बल का नही। दोनों एक-दूसरे के आदर्शों और कठिनाइयों को समझें और उसके अनुकूल अपना जीवन ढालें तो भू पर स्वर्ग उतर सकता है। यदि नीचे लिखी बातें हो तो गृहस्थाश्रम धन्य बन जाता है—

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः
कान्ता मनोहारिणी,
सन्मित्रं सुधनं स्वयोषितिरतिः
सेवारताः सेवकाः।

आतिथ्य सुरपूजनं प्रतिदिनं
मिष्टान्नपानं गृहे,
साधोः संग उपासना च सततं
धन्यो गृहस्थाश्रमः।।

अर्थात् जहाँ सुन्दर आनन्दपूर्ण घर हो, बुद्धिमान लडके हो और सुन्दर स्त्री हो (कही-कही 'प्रियवादिनी' पाठ है), अच्छे मित्र हो, ईमानदारी से कमाया हुआ धन हो, अपनी स्त्री से प्रेम हो, नौकर सेवापरायण हों (नौकर को भी अच्छे घर मे स्थान दिया गया है, उसको सेवापरायण बनाना मालिक के सद्व्यवहार पर रहता है), घर मे अतिथि-सत्कार हो, देव-पूजन होता हो (उन दिनो शायद इतने मधुमेही लोग न हो !), साधुओ की संगति हो और हमेशा उपासना-भजन-कीर्तनादि चलता रहे, वहाँ का गृहस्थाश्रम धन्य है।

पिता-पुत्र—सन्तान किसी सिलसिले के जारी रहने को कहते है। पिता और पुत्र का सम्बन्ध समाज की स्थिति और उन्नति के क्रम का प्रतीक है। पुत्र प्रगतिशील है तो पिता उस प्रगतिशीलता को सन्तुलित रखता है। पिता पुत्रों पर अपना स्वाभाविक शासनाधिकार समझते है। पिता को पुत्रो की शिक्षा और भरण-पोषण का अधिकार है तो शासन-अधिकार भी होना तर्क-सम्मत है, किन्तु यह अधिकार अधिकारी और अधिकृत के सम्बन्ध मे नही पुत्र के हित में करे और जैसे-जैसे पुत्र बड़ा होता जाय, वह हित-अनहित की परख को पुत्र पर छोडता जाय। पुत्र प्रायः जवानी की उमग मे इस अधिकार का दुरुपयोग कर बैठते है, इसलिए पिता को चाहिए कि मित्रवत् पुत्र को सन्मार्ग दिखाता रहे। पुत्रो को भी अपने माता-पिताओ के अनुभव, बुद्धि और सदाशयता पर विश्वास करना चाहिए। 'कुपुत्रो जायते क्वचिदपि कुमाता न भवति।' सन्तान को यह चाहिए कि जितना ऊपर से अधिकार ढीला किया जाय उतना वे आत्मसयम से काम ले। पिता और पुत्र का भय का सम्बन्ध न हो, प्रेम का सम्बन्ध हो। पिताओं को चाहिए कि वे अपने पुत्रो को आतंकित न रखे, उनको भय की प्रीति न सिखाएँ वरन् प्रीति का भय सिखाएँ। लडको के स्वाभिमान, उनकी अपनी स्फूर्ति से कार्य करने की क्षमता और हिताहित-चिन्तन की योग्यता को उचित स्वतन्त्रता देते हुए बढायँ। अधिक बधन मे रखने की प्रतिक्रिया भी बुरी होती है और ये सद्गुण भी नष्ट हो जाते है।

सास-बहू—सास-बहू का सम्बन्ध पिता-पुत्र के सम्बन्ध से कुछ भिन्न होता है। पुत्र घर का अंग जन्म से ही होता है और बहू विवाह से घर का

अंग बन जाती है। वह अपने घर का दुलार-प्यार छोड़कर पति के घर का अंग बनने आती है। इसलिए पुत्र से भी अधिक वह दया और वात्सल्य की अधिकारिणी बननी चाहिए, किन्तु होता उल्टा है। स्वभावतः अवस्था में बड़ी होने के कारण सास अधिक सेवा की अधिकारिणी है। सास का घर का स्वामित्व भी अधिक कालव्यापी है, किन्तु दुर्भाग्यवश सासें उस अधिकार को चिरस्थायी समझ बैठती है। उनकी आयु क्षीण हो जाती है। यह अधिकार सदा उनके पास नही रहेगा। वे तुलसीदासजी से शिक्षा नही ग्रहण करती—'अन्तहु तोहि तजेंगे पामर तू काहे न तज अबही ते।' सास-बहू में अधिकार लिप्सा तो इतना संघर्ष का कारण नही होती, किन्तु सासों को पुत्र के प्रेम से वंचित हो जाने की आशंका सताने लगती है। यह शंका बहुत अंश मे तो निर्मूल होती है और यदि वास्तविक भी हो तो उसकी परवाह न करनी चाहिए। इसी आशंका से सास-ससुर अपना-अपना अधिकार जमाए रखना चाहते हैं। जितना अधिकार चाहा जाता है, उतना ही अधिकार कम मिलता है और जितना अधिकार छोडा जाता है उतना ही अधिक मिलता है। पुत्र-पुत्रवधू को भी चाहिए कि वे माता-पिता को सम्मान से रखे, उनको स्वयं ही अधिकार सौपते रहे और बड़ो को चाहिए कि वे अधिकार का क्रमशः विसर्जन करते जायँ। पिता और पुत्र, माता और पुत्र, सास और बहू दोनों ही पक्ष के लोग त्याग के साथ भोग की शिक्षा लें, दोनो एक-दूसरे की कठिनाइयो को समझें और प्रेम-पूर्वक गार्हस्थ्य-धर्म का पालन करें।

पुत्र और पुत्रवधू अपनी प्रगतिशीलता को अपने बड़े-बूढो पर न लादे। वे सोचें कि जिस पर उन्होने सारा जीवन व्यतीत किया है, उसमे वे आमूल-चूल परिवर्तन नही कर सकते हे। पुत्र और पुत्रवधू से यह अपेक्षा की जाती है कि वे यथासम्भव उनके आदर्शों का पालन करे और कम से कम उनके भावो को आघात न पहुँचाएँ। इसी के साथ बडो को चाहिए कि वे सोचें कि दुनिया परिवर्तनशील है। वे जिस संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते है वह भी ठेठ वैदिक या त्रेतायुग का संस्कृति नही है। युवक-युवतियों का समय के प्रवाह मे पड़ना स्वाभाविक है। किन्तु वे इतने न बह जायँ कि सारी जातीयता खो बैठे और अपना अस्तित्व ही मिटा दें। गति के साथ संयम और स्थितिरक्षा दोनों ही आवश्यक है। प्राचीन स्थिति की रक्षा करते हुए जो गति होती है उसी मे तारतम्य रहता है, नहीं तो उच्छृंखलता आ जाती है।

अन्य क्षेत्र—व्यापारिक और औद्योगिक क्षेत्रों मे भी यह प्रश्न उतना ही गम्भीर है, जितना कि और क्षेत्रों में। मिल-मालिक और मजदूर की

समस्या चिरकाल से चली आ रही है। समाज में उत्पादन के लिए दोनों ही आवश्यक है। दोनों का अपना-अपना बल है। दोनो पक्ष के लोग एक-दूसरे को अपने पर आश्रित समझते है। यदि दोनो पक्ष देश और जनता के लिए अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करे तो सघर्ष किसी मात्रा मे कम हो सकता है। मिल-मालिकों को त्याग के साथ भोग की शिक्षा लेनी चाहिए। मजदूर अपनी गरज से काम करने आते है, किन्तु उनकी गरज का लाभ उठाना या उसके कारण दबाना पाप है। गरज मिल-मालिक की भी उतनी है जितनी कि मजदूर की। दूसरे की गरज का अनुचित लाभ उठाना मानवता के विरुद्ध है। वस्तुओ के खरीदने अथवा रिक्शा वाले की मजदूरी देने मे उनकी आपस की प्रतिद्वंद्विता से लाभ उठाना एक दूषित मनोवृत्ति है।

सन्त विनोबा का कहना है कि शुद्ध खादी के लिए यही आवश्यक नही कि वह हाथ की कती और बुनी हो, वरन् उसकी उचित मजदूरी भी दी गई हो। हम दूसरों की बेबसी से लाभ उठाकर मजदूर या नौकर की मजूरी कम करके या छोटे दूकानदार से लड-झगडकर दो-चार पैसे बचा ले और दूसरे का जी दुखाएं या उसे कठिनाई मे डालें तो इसको न्याय नहीं कहा जायगा। इसके अतिरिक्त हमको सदा ध्यान रखना चाहिए कि धन की अपेक्षा जन का अधिक महत्त्व है।

मैं आर्यो का आदर्श बताने आया।
जन सन्मुख धन को तुच्छ बताने आया।।

—साकेत, अष्टम सर्ग

[*'साप्ताहिक हिन्दुस्तान'*, ५ व १९ दिसम्बर, १९५४]

गांधीवाद और भारतीय परम्परा

गांधीवाद जगत में आया ले मानवता का नव मान।
सत्य अहिंसा से मनुजोचित नव संस्कृति करने निर्माण ।।
गाधीवाद हमें जीवन पर देता अन्तर्गत विश्वास।
मानव की निस्सीम शक्ति का उसमें मिलता चिर आभास ।।

—पन्त

प्राचीन की आधार-शिला पर ही नवीन के भव्य भवन का निर्माण होता है। कोई विचार नवीन नही होते, उनकी जडे प्रचीन विचार-धारा में निहित रहती है। समय और परिस्थितियों की क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण विचारों का विकास होता है। विकास मे अव्यक्त वात व्यक्त की जाती है। सच्चा विचारक और द्रष्टा समाज के विखरे हुए भावों को एकत्र कर उनको रूप-रेखा प्रदान करता है। उसकी मौलिकता इसी मे रहती है कि उसकी सूक्ष्म दृष्टि समय की गति को रेडियो के ग्राहक यन्त्र की भाँति पकड़ लेती है और रेडियो के ध्वनि-विस्तारक यन्त्र की भाँति वह उसको मुखरित कर देता है। नेता जनता-जनार्दन का मुख होता है। गाधीजी भारतीय परम्परा में पले थे, उनका घराना एक धर्मनिष्ठ वैष्णव घराना था। गाधीजी भारतीय संस्कृति मे पूर्णतया दीक्षित थे। वे भारत की धार्मिक प्रकृति से परिचित थे और समय की असमानताओ का साम्राज्य था। हमारे जातीय जीवन में अवर्ण-सवर्ण की असमानताएं थी और गोरे-कालों का भी भेदभाव था। गोरे-काले की समस्या उग्र रूप से उनके सामने आयी थी और उन्होने उसके कारण कष्ट भी सहे थे। वे सच्चे वैष्णव जन थे और पराई पीर को जानते थे। 'वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीड पराई जाणे रे।' उनका हृदय वैसे ही सहानुभूतिशील था, फिर उनके पैरों में भी विवाई फट चुकी थी। उनके लिए ऐसी वात न थी कि कही जाय 'जाके पाँय न फटी विवाई, सो का जाने पीर पराई।' गाधीजी अपने समय की समस्याओ से पूर्णतया परिचित थे। वे परिचित ही नही थे किन्तु पर-दु.खकातरता ने उनको उन समस्याओं के हल करने के अर्थ पूरी-पूरी संलग्नता और तत्परता प्रदान करदी थी। उनके सिद्धान्तों की रूप-रेखा दक्षिण अफ्रीका मे ही तैयार हो चुकी थी। 'हारिये न हिम्मत विसारिये न राम' की साहसिकता लेकर वे भारतीय राजनीति में आए।

वे आन्दोलन अवश्य करते थे किन्तु उनका आन्दोलन सत्य और अहिंसा पर अवलम्बित था। 'सत्यमेव जयते' और 'अहिंसा परमो धर्मः' के पाठ को उन्होने औपचारिक रूप से ही नही पढा था वरन् उसको हृदयङ्गम करके अपने जीवन और भारतीय राजनीति का मूलमत्र बनाया था। उन्होने राजनीति को कूटनीति न बनाकर धर्मनीति का रूप दिया था। जिस न्याय की तुला से उन्होने विदेशी शासन को तोला था उसी से भारतीय समाज की विषमताओं को भी तोला। तभी उन्होने अछूतोद्धार को ब्रिटिश शासन-मुक्ति से भी अधिक महत्त्व दिया। रग की विषमता यदि हमको मर्म-भेदिनी प्रतीत होती है तो वर्ण की विषमता अवर्णों को भी वैसी ही प्रतीत होती होगी। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्' गीता प्रतिपादित उनकी आत्मौपम्य दृष्टि ने उनको हरिजनों का पक्ष लेने को प्रेरित किया। चरित्र-निर्माण को उन्होंने राष्ट्र-निर्माण का मुख्य अग समझा। महात्मा गाधी ने राष्ट्र-निर्माण और चरित्र-निर्माण के अर्थ एकादश व्रतों के पालन पर आग्रह किया। वे व्रत इस प्रकार है :—

अहिंसा सत्यमस्तेय ब्रह्मचर्यं असंग्रहः
शरीरश्रम अस्वादः सर्वत्र भयवर्जनः
सर्वधर्मी समानत्व स्वदेशी स्पर्शभावना
हि एकादश सेवा विनम्रत्वे व्रत निश्चये।

इनमे अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह योगशास्त्र मे वर्णित यम है।

'अहिंसासत्यमस्तेय ब्रह्मचर्याऽपरिग्रहाः यमाः।'
—योग सूत्र सा० पा० ३०

जैनियो मे ये महाव्रत के नाम से विख्यात है और बौद्धो मे ये पचशील कहलाते है।

इन व्रतों की प्रतिष्ठा पृथक रूप से भी शास्त्रों मे मिलती है। अहिंसा की महिमा जैन, बौद्ध, वैष्णव सभी सम्प्रदायों मे है। अहिंसा को परम धर्म कहा है। अहिंसा धर्म की ही न होनी चाहिए वरन् मन और वाणी की भी। तभी क्षमा और प्रिय भाषण का इतना महत्त्व है। 'जीओ और जीने दो' भारतीय राजनीति का मूलमत्र रहा है। ठाकुर कवि ने कहा है "विधि के बनाए जीव जेते है, जहाँ के तहाँ खेलत फिरत तिन्हे खेलन फिरन देव।"

'सत्यमेव जयते नानृतम्' की बात सभी जानते है। कबीर ने भी कहा है—'साँच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप, जाके हृदय साँच है ताके हृदय

आप।' यह सत्य पूरे जीवन का सत्य है। मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य का पालन करना ही सच्चा सत्य है। कथनी और करनी एक होना चाहिए। कबीर ने कहा है—

करनी बिन कथनी कथै अज्ञानी दिन रात।
कूकर ज्यो भूकत फिरै, सुनी सुनाई बात।।

चाणक्य नीति मे कहा है कि महात्माओं का मन, वचन और कर्म एक होता है—'मनस्येक वचस्येकं कर्मण्येक महात्मनम्'।

कविकुल-चूणामणि-गोस्वामी-तुलसीदासजी कथनी और करनी के एक होने को भगवान् की कृपा की कसौटी मानते है—

तुम अपनायो हौं तवैही परि जानिहौ।
गढि गुढि छोलि छालि कुद की सी भाईं बातैं।
जैसी मुख कहौं तैसी जीय जब आनिहौ।।

—कवितावली, उत्तर काण्ड, ६३

अस्तेय को (चोरी न करने को) मनु महाराज ने धर्म के दस लक्षणों मे गिनाया है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

—मनुस्मृति ६/९२

ब्रह्मचर्य ऊपर के गिनाए हुए धर्मों में इन्दिय-निग्रह के अन्तर्गत है। वास्तव मे ब्रह्मचर्य सब इन्द्रियों के निग्रह का प्रतीक है। इन्द्रिय-निग्रह से ही ब्रह्मचर्य सम्भव हो सकता है।

अपरिग्रह का उपदेश ईसावास्य उपनिषद् के पहले ही मन्त्र में दिया गया है। वह बतलाता है कि सारा संसार ईश्वर से व्याप्त है। सब उसी का है। त्याग करते हुए भोग करो। दूसरे के धन का लालच न करो।

ॐ ईशावास्यमिदसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी परिग्रह का त्याग बतलाया गया है—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।

—श्रीमद्भगवद्गीता १८/५३

भारतीय जीवन में शारीरिक श्रम का विशेष महत्त्व है। सब काम को अपने हाथ से ही करने पर बल दिया गया है। अस्वाद भी इन्द्रिय-निग्रह का एक अग है। गाधीवाद दूसरे को कष्ट देने की अपेक्षा अपने को कष्ट देना सिखाता है। शारीरिक श्रम मनुष्य को कष्ट-सहिष्णुता के लिए तैयार करता है। सेवा धर्म के लिए भी शारीरिक श्रम आवश्यक हो जाता है।

निर्भयता को भगवद्गीता मे दैवी सम्पत्ति के वर्णन मे प्रथम स्थान दिया गया है—अभय सत्वसशुद्धिः (१६/१)। हिन्दू धर्म सर्व-धर्म-समभाव के सम्बन्ध में बड़ा उदार रहा है। महिम्न स्तोत्र मे लिखा है—

रुचीना वैचित्र्यादृजुकुटिल नानापथजुषा।
नृणामेकोः गम्यस्त्व पयसामरणमिव ।।

अर्थात् 'रुचियों की विचित्रता के कारण कोई सीधा रास्ता जाता है, कोई टेढ़ा जाता है। जिस प्रकार सब जल समुद्र को जाते है उसी प्रकार तुम सब मनुष्यो के गन्तव्य स्थान हो।' स्वदेशी स्वधर्म की भाँति चाहे खराब भी हो अधिक श्रेयस्कर है। अस्पृश्यता निवारण के सम्बन्ध मे मतभेद हो सकता है किन्तु सच्चे एकात्मवाद मे अस्पर्श्य कोई नही है।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।

—गीता ५/१८

अर्थात् विद्या-विनय से युक्त ब्राह्मण में, गाय मे, हाथी मे, कुत्ते मे और चाडाल मे पडित लोग समदर्शी होते है। स्पर्श्यभाव को मानने वाले लोग कहते है यह परमार्थ मे ही सत्य है, व्यवहार मे सत्य नही है। महात्मा गाधी परमार्थ और व्यवहार मे कोई भेद नही करते है। यदि मनुष्य वास्तव मे समदर्शी है तो उसके लिए स्पर्श्यास्पर्श्य का भेद नही रहता है। हमे समता दृष्टि को सभी बातो मे लगाना चाहिए।

नम्रता भारतीय सस्कृति का एक विशेष गुण है। ब्राह्मण के लिए भी विनय को आवश्यक बतलाया है—'विद्याविनय सम्पन्ने'। विद्या की शोभा विनय मे है—'विद्याविनयेन शोभते'।

गांधीजी ने इन व्रतो के अतिरिक्त क्षमा और अक्रोध को अपनाया था। ये मनु महाराज के बतलाए हुए दश धर्मों मे ऊँचा स्थान पाते है। धम्मपद मे कहा है—

अक्रोधेन जिने कोध असाधु साधुना जिने।

अर्थात् क्रोधी को अक्रोध से और असाधु को साधुता से जीतना चाहिए। गांधीवाद भारत की आध्यात्मिकता पर आधारित है और वह मानवता का वह सन्देश लेकर आया था, जिससे प्रेरित होकर हमारे ऋषियों ने कहा था—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुख भाग्भवेत्॥

[*'उत्तर प्रदेश पंचायती राज्य'*, १५ अगस्त, १९५४]

राष्ट्रोन्नति में जातीय गर्व की महत्ता

> विकास की आस भरा नवेन्दु सा,
> हरा-भरा कोमल पुष्प-माल्य सा।
> प्रमोद-दाता विमल प्रभात सा,
> स्वतन्त्रता का शुचि पर्व आ लसा।

आज का शुभ दिन भारत के राजनीतिक इतिहास मे सबसे अधिक महत्त्व का है। आज ही हमारी सघन कलुष-कालिमामयी दासता की लौह शृङ्खलाएँ टूटी थी। आज ही स्वतन्त्रता के नवोज्ज्वल प्रभात के दर्शन हुए थे। आज दिल्ली के लाल किले पर पहली बार यूनियन जैक के स्थान मे सत्य और अहिंसा का प्रतीक तिरङ्गा झण्डा स्वतन्त्रता की हवा के झोंकों से लहराया था। आज ही हमारे नेताओ के चिरसचित स्वप्न चरितार्थ हुए थे। आज ही युगो की परतन्त्रता के पश्चात् शख ध्वनि के साथ जयघोष और पूर्ण स्वतन्त्रता का उद्घोष हुआ था।

हमारी उदासीनता—इतने महत्त्व और हर्षोल्लास के पुण्य पर्व पर हमारा सबसे पहला कर्तव्य तो यही है कि हम अपने खोए हुए स्वाभिमान की पुनः प्राप्ति पर हर्ष मनाएँ और अपने मे स्वतन्त्रता के उत्तरदायित्व की नवचेतना जागृत करे, किन्तु हम अपने वैयक्तिक स्वार्थो मे इतने जकड़े हुए है, अपने आर्थिक अभावो (जिनमे कुछ कल्पित भी है) की चेतना से इतने आक्रान्त है और दलबन्दी के दलदल मे इतने फँसे हुए है कि हम नैराश्य और विरक्ति के साथ कह बैठते है कि स्वराज्य जिसके लिए आया होगा उसके लिए आया होगा, हमारे लिए तो वही अभावो से भरा जीवन है। हम आपके अभावों की महत्ता को कम नही करना चाहते, हम आपके साथ यह भी कहने को तैयार है कि 'भूखे भजन न होइ गोपाला,' किन्तु हम यह नम्र निवेदन करना चाहते है कि रोटी के विना जीवन-निर्वाह नही होता यह तो ठीक है, किन्तु मनुष्य केवल रोटी पर नही जीता, उसमे स्वाभिमान भी होता है। वैयक्तिक स्वाभिमान से भी जातीय स्वाभिमान अधिक महत्त्व रखता है—'सब ते अधिक जाति अपमाना'—किन्तु हमने उस जातीय स्वाभिमान की परवाह नही की। हममे राष्ट्रीयता की वह सामूहिक चेतना नही जो स्वराज्य से पहले थी। हमने अपना तादात्म्य भारत की आत्मा से नही किया है। 'सरकार चाहे जिस दल की हो भारत अपना है' यह चेतना सामूहिक रूप

से न हमारे बडे-बूढ़ो मे आई है और न विद्यार्थियों में। हम समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि को अधिक महत्त्व देते है। भारत के गौरव को हम अपना गौरव नहीं समझते है। 'मानो हि महतां धनम्' की बात को हम भूल गए है और याद भी है तो वैयक्तिक मान के सम्बन्ध में।

हमारे कवियो ने अभावों की ओर अधिक ध्यान दिया है। स्वतन्त्र भारत के विस्तारोन्मुख क्षितिज को देखकर जो हृदय की युक्तावस्था आनी चाहिए वह उनमें बहुत कम मात्रा मे आई है। जातीय चेतना जो स्वराज्य से पहले थी उसमे वृद्धि होने की अपेक्षा मूल मे भी ह्रास दिखाई देता है। स्वतन्त्रता का पर्व आता है और चला जाता है, एक रस्म सी अदा हो जाती है। हमने अपने वैयक्तिक अभावो के कारण उसका मूल्य नही पहचाना है। हम उसका मूल्य स्वार्थसिद्धि की भाषा मे आँकते हे। कुछ लोग सामूहिक कष्टों से भी अवश्य दुखी हैं। ऐसी बात नही कि सब लोग वैयक्तिक अभावों से ही पीड़ित हों, किन्तु अन्धकार के साथ कुछ शुभ्र और उज्ज्वल रेखाएं भी है। उनकी ओर हमारा ध्यान नही जाता है। बुराई की ओर हमारा ध्यान अधिक दौड़ता है। नई योजनाएं चरितार्थ हो रही हैं। उनमे चाहे अपव्यय हुआ हो, किन्तु सब धोका ही धोका नही। उसको धोका बताना हजारों लोगो के परिश्रम और बलिदान पर पानी फेर देना होगा। भाखरा-नांगल बाँध केवल मायाजाल नही है। अन्न के अभाव के लिए सरकार की खूब बुराई हुई, किन्तु उसके दूर होने की स्थिति निकट आने पर किसी ने साधुवाद के दो शब्द भी नही कहे। क्या यह सब सब्जबाग है? तेनसिंह द्वारा एवरेस्ट विजय पर हममे एव विद्यार्थियो मे वह उल्लास नही आया जो आना चाहिए और न साहसी कार्यो के लिए उससे इतनी प्रेरणा मिली जितनी कि मिलनी चाहिए थी। हमारे कवि भी कुछ उदासीन से रहे। विदेशी राजनीति की गति-विधि मे जो भारत का हाथ हे उस पर हम गर्व नही करते। हिन्द-चीन की विराम-सन्धि के निरीक्षण आयोग में भारत को जो अध्यक्षता मिली उससे हम वीतरागी वेदान्तियो की भाँति अविचलित है, हर्षोल्लास की रेखा हमारे मुख पर नही। विदेशी बस्तियो पर वहाँ के निवासियो को छोड़कर उतना जन-क्षोभ नही प्रकट हुआ जितना होना चाहिए। शिक्षा और विज्ञान के क्षेत्र में नए अनुसन्धान हो रहे हैं। अणु-शक्ति से भी हम लाभ उठाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इन नवीन सम्भावनाओं से हमारे युवकों का मन प्रभावित नहीं होता।

अभावों के अस्तित्व में भी पर्व की खुशी—देश मे अभाव है, असमानताएं

भी है, उनको भुलाया नही जा सकता, किन्तु हमको यह भी नही भूलना चाहिए कि दुनियाँ इतनी सम्पन्न नही है कि सबके अभावो की समान रूप से पूर्ति हो सके। बेकारी अवश्य है, किन्तु बेकारी गोस्वामी तुलसीदासजी के समय मे भी थी—

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका-विहीन लोग सीद्यमान सोचबस,
कहैं एक एकन सो, 'कहाँ जाइ, का करी ?'

—कवितावली, उत्तरकाण्ड ६७

किन्तु यह हमारे लिए कोई सन्तोष की बात नही और न यह हमारी अकर्मण्यता के लिए बहाना बनना चाहिए। इन अभावो के होते हुए भी जहाँ हम होली-दिवाली और ईद मना सकते है वहाँ इस राजनीतिक पर्व को भी हर्षोल्लास से मना सकते है।

पर्व पर हर्षोल्लास से जातीय लाभ—राष्ट्रीय पर्व का मनाना कोरी भावुकता नही है। इस भावुकता का मूल्य है। भावुकता मे सक्रामकता होती है, सक्रामकता से वस्तु जनता की हो जाती है और फिर वह शक्ति का सचार करती है। विचार हमारी दिशा का निर्देशन कर सकते है, किन्तु कार्य-सम्पादन की प्रबल प्रेरणा और शक्ति भावो मे ही निहित रहती है। भाव भी जब तक वैयक्तिक रहते है तब तक 'एक चना भाड़ नही फोड़ सकता' की बात सार्थक करते है। 'एकला चलो रे' की बात बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, कबीर, नानक, रवीन्द्र और गाधी के लिए ठीक हो सकती है। वे अकेले चल पड़ते है और लोग उनके पीछे चलते है, किन्तु बिना पीछे चलने वालो के उनकी वाणी भी बल नही पकडती। इस जन-रस और जन-शक्ति को उत्पन्न करने के लिए इन राष्ट्रीय पर्वो का मनाना आवश्यक है। इनसे हमारे कार्यो मे एक-ध्येयता आती है और वे गति पकडते है। हमारी बहुत-सी योजनाओ मे जो बल नही आने पाता वह इसी जातीय गर्व की भावना के अभाव के कारण है। भ्रष्टाचार पर हम विजय नही पा सके है, इसके मूल मे भी जातीय गर्व का अभाव है। हमारे बहुत से उच्चाधिकारी भी राज-मद में उन्मत्त हो गए है, यह जातीय गर्व के अभाव के कारण ही है। 'प्रभुता पाइ काहि मद नाही' की लोकोक्ति उन्ही के लिए है जिनमे जातीय गौरव और देशहित की भावना की कमी है। जातीय गर्व का अभाव वैयक्तिकता का पोषण करता है। ऐसे समय मे जब विदेशी बस्तियों की उन्मुक्ति का

प्रश्न है, अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व हमारे कधों पर आ गया है, देश के डूबने और बचाने का सवाल है, जब चारों ओर से आलोचना के तीक्ष्ण बाण चल रहे हैं, इस जातीय गर्व की विशेष आवश्यकता है। कोरा जातीय गर्व काम न देगा। उसके भीतर सच्ची भावना होनी चाहिए जिससे हम उसको सार्थक करने के लिए अपना चरित्र ढाल सकें। राष्ट्रीय चरित्र के उत्थान के बिना भ्रष्टाचार और अत्याचार, दम्भ और धोकेबाजी दूर न होगी।

हमारा उत्तरदायित्व—इस जातीय गर्व के साथ हमारे कधों पर तदनुरूप चरित्र-निर्माण का बोझ तो आ ही जाता है, किन्तु उसी से हम पर अपने को ज्ञान-सम्पन्न बनाने का भी उत्तरदायित्व आ जाता है। देश की गतिविधि से हम अनभिज्ञ रहते हैं। इसमें सरकार का भी दोष है, उसका प्रचार-विभाग भी जातीय गर्व से प्रेरित न होकर कोरी खानापूरी करता है। उसको चाहिए कि जनता के सम्पर्क मे आए। आलोचनाओ के आधारभूत सत्य की खोज करे और सरकार की कठिनाइयो की व्याख्या करे। समस्याओं के अध्ययन में विशेषकर विद्यार्थियो को कोरी भावुकता से काम न लेना चाहिए। उनको निर्भय तर्क द्वारा पक्ष-विपक्ष की युक्तियो की छानबीन द्वारा पूर्ण निश्चय कर निर्भीकता पूर्वक अपना मत प्रकट करना चाहिए।

हमको चाहिए कि हम अपने हृदय को दूसरों की सफलता पर गर्व से स्पन्दित और दूसरो की विफलता पर सहानुभूति से आन्दोलित करने मे सहायक हों। राष्ट्र के किसी भी क्षेत्र मे किसी व्यक्ति की सफलता को अपनी सफलता और किसी व्यक्ति की विफलता को अपनी विफलता समझे। गीता के कर्मयोग मे बतलाया गया है कि जो कुछ हम कर्म करें उसको कृष्णार्पण-मस्तु की भावना से करे। हमको अपने काम देश के गौरवहिताय करने चाहिए। हमे सोचना चाहिए कि हमारा अच्छा काम देश के गौरव को बढ़ाएगा और हमारा बुरा काम देश का मस्तक नीचा करेगा। हमको अपने रहन-सहन के भीतरी और बाहरी दोनों स्तरो को ऊंचा करना चाहिए। सरकार पञ्चवर्षीय योजना मे देश के बाहरी रहन-सहन को ऊंचा करने का उद्योग कर रही है। चारित्रिक स्तर को ऊंचा करने की भी उतनी ही आवश्यकता है।

हम देश को सम्पन्न और शक्तिशाली बनाने मे योग दें। अपने लड़के-बच्चो को ऐसे उद्योग-धंधे सिखाएं जिनसे नवनिर्माण में सहायता पहुँचे। उनके जीविकोपार्जन मे राष्ट्रीय दृष्टिकोण रखें। हम अपने रहन-सहन को ही ऊंचा न करें, बल्कि दूसरों के रहन-सहन के ऊंचे होने में भी सहायक बनें। दूसरों

के साथ प्रेम-व्यवहार से उनके हीनता-भाव को दूर करे। यदि हम सरकारी अफसर है तो हम शक्ति के आतक से नही वरन् प्रेम और सेवा-भाव से जनता को आकर्षित करे। सच्ची सेवा चुनाव के अवसरो पर वोट-भिक्षा के परिश्रम और अपव्यय को भी बचाती है। हम अपने रहन-सहन तथा अपने घरों और नगरो को सुन्दर बनाकर भारत को गर्व की वस्तु बनाएँ।

हम आलोचना करने से पूर्व समस्याओ का अध्ययन करने का प्रयत्न करें और उनके हल करने मे भी योग दे। देश की समस्याओ को अपनी समस्या समझे और उसके लिए अपना उत्तरदायित्व अनुभव करे।

जातीय गर्व के बाधक—जातीय गर्व के बाधक कुछ कारण तो जनता पर आश्रित है और कुछ सरकार पर। प्रायः वैयक्तिकता का आधिक्य, प्रान्तीय भावना, साम्प्रदायिकता और दलबन्दी जातीय गर्व मे बाधक होते हैं। लोग देश और जाति की अपेक्षा सम्प्रदाय और प्रान्त को अधिक महत्त्व देते है। यह सकुचित भावना है। राष्ट्र सबका है। सब प्रान्तो, सब दलों और सब सम्प्रदायों को एक नियमित सीमा तक पूर्ण स्वतन्त्रता है, किन्तु इस स्वतन्त्रता की आड मे राष्ट्र के गौरव की उपेक्षा करना उसका दुरुपयोग है। राष्ट्र अगी है, व्यक्ति, दल, प्रान्त और सम्प्रदाय अग है। अग का हित अगी की रक्षा मे है। व्यक्ति, दल, प्रान्त और सम्प्रदाय की रक्षा राष्ट्र की रक्षा पर निर्भर है। इसलिए राष्ट्र की उपेक्षा अनुचित और घातक है।

सरकार का उत्तरदायित्व—जहाँ जनता का इतना कर्तव्य है वहाँ सरकार का भी इतना कर्त्तव्य है कि वह असन्तोष के कारणो का विधिवत् अध्ययन करे और सत्य को ग्रहण करे। उसमें हठधर्मी को स्थान न दे। आवश्यक वैभव प्रदर्शन की आड मे अपव्यय को न होने दे। जब सरकारी कामों में अपव्यय होता है तब नीचे के अफसरो को भी भ्रष्टाचार के लिए प्रोत्साहन मिलता है। सरकारी अधिकारियो मे सच्ची सेवा भावना जागृत की जाय जिससे वे वास्तव मे जनता के सेवक कहे जाने के अधिकारी बने।

सरकार दूसरे दलो से भी इतनी उदारता का व्यवहार करे कि उनको भी यह अनुभव होने दे कि सरकार उनकी है। आलोचना से लाभ उठाए और उनके परामर्श को उचित मान दे। राज्यो की समृद्धि और स्वतन्त्रता का सरकार उतना ही ध्यान रखे जितना कि केन्द्र की उन्नति का।

जनता और सरकार का सहयोग—जातीय गर्व की रक्षा का भार सरकार और जनता दोनो के ऊपर है। दोनो के सहयोग मे ही जाति का कल्याण है। जहाँ जनता का कर्त्तव्य है कि वह सरकार और देश पर गर्व

और राष्ट्रीय पर्वों में हर्षोल्लास प्रकट करे वहाँ सरकार का भी कर्त्तव्य है कि सच्चे अर्थ में जनता की सरकार और उसके गर्व की वस्तु बनने को अधिकारिणी बने। स्वस्थ लोकमत की वह उपेक्षा न करे, और जनसम्पर्क के प्रति अधिक से अधिक उत्तरदायी बने। सरकार की मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा की रक्षा सरकार के अधिकारियों के हाथ में है। वे स्वार्थवश ऐसा काम न करें जिससे जातीय गर्व को हानि पहुँचे। वे सरकार की प्रतिष्ठा के लिए अपनी सुख-सुविधाओं और मान-प्रतिष्ठा का त्याग कर समाज के सच्चे सेवक बने। वे राजकीय सत्ता के अधिकार से शासन करें जिसमे शासित को शासन का भार न अखरे और उनके बीच की खाई कम हो।

[*'साप्ताहिक हिन्दुस्तान'*, १५ अगस्त, १९५४]

साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीयता

मनुज जीवन है अनमोल
साधना है वह एक महान।
सभी निज सस्कृति के अनुकूल
एक हो रचे राष्ट्र-उत्थान।

—साकेत सन्त

भारत एक स्वतन्त्र राष्ट्र है। राष्ट्र के लिए यह आवश्यक नही है कि उसके रहने वाले एक जाति व सम्प्रदाय के ही हो। राष्ट्र एक राजनीतिक इकाई है। उसके निवासियो के राजनीतिक हितो की एक-ध्येयता और शासन की एक-सूत्रता उनमे सगठन स्थित रखने के लिए आवश्यक है। सभी सम्प्रदाय और सभी प्रान्त राष्ट्र के अङ्ग है। राष्ट्र का हित सब का सम्मिलित हित है और राष्ट्र का अहित सब के लिए घातक है। ऐसी चेतना ही राष्ट्रीयता का मूल है।

राष्ट्र सब के हित के लिए है। उसके लिए हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, सिख सब बराबर है। वह किसी जाति विशेष का नही है और न किसी जाति विशेष को उसमे विशेष अधिकार है, सभी उसके सरक्षण और पोषण के समान रूप से अधिकारी है। सब के उसमे समान अधिकार और कर्त्तव्य है। सब पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है जब तक कि वे दूसरे की स्वतन्त्रता मे बाधक न हो और राजकीय नियमों का पालन करते रहे।

साम्प्रदायिकता उस सीमा तक क्षम्य है जहाँ तक कि वह अपने लोगों की सास्कृतिक उन्नति मे सहायक होती है। साम्प्रदायिकता वही दूषित हो जाती है जहाँ पर कि वह अपने लोगो के लिए दूसरो की अपेक्षा विशेषाधिकार चाहने लगती है। अपने-अपने धर्म का अविरोध रूप से पालन करते रहना साम्प्रदायिकता नही। अपने धर्म को बलपूर्वक दूसरो पर लादना या अपनी सुविधा के आगे दूसरो की सुविधाओ का ध्यान न रखना साम्प्रदायिकता का दूषित रूप है।

साम्प्रदायिकता के इस दूषित रूप ने देश मे दो राष्ट्रो के सिद्धान्त को जन्म दिया और देश के विभाजन सम्बन्धी असख्य यातनाएँ और भीषण मारकाट के दृश्य इसी के फलस्वरूप देखने मे आए। इसकी प्रतिक्रिया भारत

में भी हुई। महात्मा गांधी घृणा को प्रेम से जीतना चाहते थे। यह बात कुछ लोगो की समझ में न आई। इसीलिए साम्प्रदायिक रोष की वेदी पर उनका बलिदान हुआ। घृणा-घृणा को ही बल देती है। घृणा का तारतम्य एक ओर से बन्द करने पर ही टूटता है। हमारी सरकार ने साम्प्रदायिकता उन्मूलन मे किसी जाति का पक्ष नही किया। इसी कारण साम्प्रदायिक दंगों का जल्दी शमन हो सका।

राष्ट्र को समृद्ध और सम्पन्न बनाने के लिए सम्प्रदायो में अविरोध ही नही वरन् पारस्परिक प्रेम भी अपेक्षित है। पारस्परिक आदान-प्रदान में ही दोनों सम्प्रदायो की अभिवृद्धि की आशा है। विश्वास से विश्वास उत्पन्न होता है। कुछ लोग स्वभाव से अवश्य बुरे होते हैं, किन्तु कोई इतना बुरा नही कि उस पर सच्चे हृदय से की हुई भलाई का प्रभाव न पडे।

प्रत्येक सम्प्रदाय के लोग अपने-अपने धर्म और अपनी-अपनी संस्कृति के अनुकूल जीवनयापन करने में स्वतन्त्र है। राष्ट्र किसी के धर्म और सस्कृति मे बाधक नही है और न एक सम्प्रदाय को दूसरे सम्प्रदाय की धर्म और सस्कृति मे बाधक होना चाहिए। धर्म एकता का द्योतक है। उसे पार्थक्य का साधन न बनाना चाहिए। जो सम्प्रदाय अपने धर्म का आदर चाहता है उसको दूसरे के धर्म का आदर करना चाहिए। सब धर्म मूल मे एक ही है। सभी धर्म मनुष्य के साथ सद्व्यवहार सिखाते है। ईश्वर किसी विशेष धर्म या जाति का नही। सर्वव्यापक किसी एक सम्प्रदाय मे सीमित नही हो सकता। इसीलिए कबीर और गाधी जैसे उदार नेता महात्माओ ने राम और रहीम की एकता मानी है। 'ईश्वर अल्ला तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान्।' आकृति, वेष, वर्ण, रीति-रिवाज यह सब ऊपरी वस्तुएँ है। अन्तर्दृष्टि डालने पर सब मे एक ही प्राण का स्पन्दन दिखाई देता है। उसी विश्वात्मा से सभी अनुप्रमाणित है। इस सम्बन्ध में गुप्तजी की निम्नलिखित पक्तियाँ पठनीय है—

> आकृति वर्ण और वह वेष।
> ये सब निज वैचित्र्य विशेष।
> डालो अन्तर्दृष्टि निमेष:
> देखो अहा! एक ही प्राण,
> विश्वबन्धुता में ही त्राण।

धर्म के मूल में पार्थक्य नही। ईश्वर-प्राप्ति के साधनों और आराधना के प्रकारों में अन्तर हो सकता है किन्तु यह अन्तर पार्थक्य का कारण

नही बन सकता है। जहाँ तक राष्ट्रीय हितो का प्रश्न है वहाँ तक हिन्दू-मुसलमान मे कोई अन्तर नही। सब को अन्न, वस्त्र और रहने के मकान की आवश्यकता होती है। सब को औषधालयो और न्यायालयो की अपेक्षा होती है। फिर पार्थक्य किस बात का ?

राष्ट्रीय विषयो मे पार्थक्य भावना का पोषण करना राष्ट्र के लिए घातक है। पृथक् निर्वाचन एव काउन्सिलो मे स्थान सुरक्षित रखने के परिणामस्वरूप ही तो राष्ट्र की कल्पना को प्रोत्साहन मिला और देश का विभाजन हुआ। पार्थक्य की भावना को दूर हटाकर सयुक्त निर्वाचन ही देश के लिए हितकर है। सयुक्त निर्वाचन के साथ-साथ बहुसख्यक जातियो पर इस बात का उत्तरदायित्व आ जाता है कि इस सयुक्त निर्वाचन के कारण अल्पसख्यको के हितो को हानि न हो, उनके योग्य व्यक्तियो को चुनाव मे आ जाना चाहिए। बहुसख्यको की अनुदारता ही पार्थक्य की भावना को जन्म देती है।

सरकारी नौकरियो मे जातियो के अनुपात से स्थान सुरक्षित कराना उचित नही हैं। नौकरियो मे जो चुनाव हो वह खुली प्रतिद्वन्द्विताओ द्वारा ही हो। उसमे चुनने वाले लोगों को सम्प्रदाय और बिरादरी की भावना से परे होना चाहिए। अल्पसख्यक लोग शिक्षा मे पिछडे हों तो उनको शिक्षा मे ऊँचा उठाने का प्रयत्न करना आवश्यक है किन्तु अल्पसख्यको को खुश करने की खातिर अयोग्य व्यक्तियो की भर्ती करना ठीक नही।

साम्प्रदायिकता चाहे मुसलमानो मे हो और चाहे हिन्दुओ मे, बुरी है। राष्ट्र को तो साम्प्रदायिकता के विष से दूर रहना चाहिए। साम्प्रदायिक ऐक्य के लिए सस्कृतियो का एकीकरण भी आवश्यक नही। सम्प्रदाय वाले अपनी-अपनी सस्कृति रखते हुए एक दूसरे के प्रति उदार रह सकते है और राष्ट्रीय हित के साधक बन सकते है। बलपूर्वक अपनी सस्कृति या अपना धर्म दूसरो पर लादना पाप है किन्तु शान्तिमय साधनो द्वारा सबको अपने-अपने धर्म के प्रचार की भी स्वतन्त्रता है। धर्म विश्वास की वस्तु है और विश्वास बलपूर्वक नही उत्पन्न किया जा सकता है।

साम्प्रदायिक सामञ्जस्य के लिए पर-धर्म-सहिष्णुता आवश्यक है। धर्म मे कट्टर बने रहना बुरी बात नही है किन्तु वह कट्टरता इस हद तक न जानी चाहिए कि वह दूसरो को अपना धर्म पालन करते हुए न देख सके। इस सम्बन्ध मे पूज्य महामना मालवीयजी के निम्नलिखित उपदेश को सदा ध्यान मे रखना चाहिए—

विश्वासे दृढ़ता स्वीये परनिन्दा विवर्जनम् ।
तितिक्षा मतभेदेषु प्राणिमात्रेषु मित्रता ।।

अर्थात् अपने विश्वास मे दृढ़ता और पराई निन्दा से दूर रहना, मतभेदों को छोड़ देना (सामान्य बातों को ग्रहण कर लेना, भेद की बातों को उपेक्षा की दृष्टि से देखना), और प्राणि मात्र से मित्रता रखनी चाहिए।

साम्प्रदायिक झगडे जो होते है वे इसी पर-धर्म-सहिष्णुता के अभाव और अपनी टेक रखने के मिथ्याभिमान के कारण होते है। धर्मो में कोई बडा और छोटा नही। सभी धर्म ईश्वर की प्राप्ति के भिन्न-भिन्न साधन है। 'रुचीना वैचित्र्याद् ऋजुकुटिल नाना-पथजुषां त्वमेकः गम्यः पयसामर्णवइव'—रुचियों की विचित्रता के कारण लोग टेड़ा और सीधा मार्ग ग्रहण करते है, तुम ही एक सबके गम्य स्थान हो जिस तरह से कि सब नदियों का एक लक्ष्य समुद्र ही है। यदि हममें यह भावना आ जाय तो साम्प्रदायिक झगड़े बन्द हो जायं। साम्प्रदायिक झगडो से देश की शक्ति क्षीण होती है और पारस्परिक वैमनस्य जड पकड जाता है। एक बार वैमनस्य स्थापित हो जाने पर भय और अविश्वास की मनोवृत्ति जागृत हो जाती है। जहाँ पारस्परिक भय होता है वहाँ या तो पलायन वृत्ति का पोषण होता है या हिंसा का। दोनो ही मनोवृत्तियाँ जाति को पतन की ओर ले जाती है। महात्मा गाधी ने वीरों की अहिंसा का प्रचार किया है जो निर्भय होकर अहिंसात्मक साधनो से अत्याचार का सामना करती है। वीरो की अहिसा मे दूसरों को मारने की अपेक्षा अपने प्राणो का बलिदान करना अधिक श्रेयस्कर समझा जाता है।

सबसे पहले तो ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करनी चाहिए जिसमे साम्प्रदायिक झगडे असम्भव हो जायं। सबल होते हुए भी दूसरे पक्ष को शान्ति और उदारता की नीति से जीतने का प्रयत्न करना चाहिए और सत्य के आग्रह मे बिना दूसरे पर हाथ उठाए आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राणों का भी उत्सर्ग कर देना चाहिए। यही महात्माजी का उपदेश है।

राष्ट्र को सशक्त बनाने की आवश्यकता है। साम्प्रदायिक एकता से राष्ट्र की शक्ति बढेगी और पारस्परिक प्रेमभाव के कारण सभी सम्प्रदाय समुन्नत और समृद्धिशाली बन सकेंगे।

[*'प्रबन्ध-प्रभाकर'*]

भारत का समन्वयवादी सन्देश

उठे जूझने विश्व-समर मे दुर्धर, लोक-चेतना के युग-शिखर भयकर ;
विश्व-सभ्यता रुग्ण हृदय मे व्याप्त हलाहल भीषण ;
अमृत-मेघ भारत, क्या छिडकेगा न प्राण संजीवन ?

—सुमित्रानन्दन पत

हाल ही मे हम, २६ जनवरी को, भारतीय गणराज्य की चौथी वर्षगाँठ मना चुके है। यह दिवस भारत का एक पुण्य पर्व दिवस है। इसी शुभ दिन को हमने पूर्ण स्वतन्त्रता का सकल्प किया था और इसी को उस सकल्प की पूर्ति हुई। यद्यपि पन्द्रह अगस्त भी हमारे लिए बडे महत्त्व का पर्व है तथापि उसके लिए हम कविवर मैथिलीशरण गुप्त के शब्दो मे यही कह सकते है—

सूर्य का यद्यपि नही आना हुआ,
किन्तु समझो रात का जाना हुआ। —साकेत

पन्द्रह अगस्त को हम दासता की प्रगाढ निद्रा से जगे थे। किन्तु सूर्योदय होने पर वस्तुओ की रूप-रेखा मे जो स्पष्टता और दीप्ति आती है वह तभी आई जब सर्वतत्र-स्वतत्र और स्वामित्व-सम्पन्न भारत के सर्वभयप्रद विधान का निर्माण हुआ और देश गणतत्र राज्य घोषित हुआ। तभी अपने देश मे प्रातःकालीन सद्यता, स्वच्छता और स्फूर्ति का विधिवत सूत्रपात हुआ और तभी हम कवि के शब्दो मे स्वतन्त्रता के सूर्योदय के सम्बन्ध मे यह कह सके—

खुले पलक, फैला स्वर्ण-जाल, जगी सुरभि, डोले मधुप बाल,
स्पन्दन कम्पन औ नवजीवन सीखा जग ने अपनाना।

—पंत

बादलों की स्वर्ण-रेखा—यद्यपि नव भारत मे जितना स्पन्दन, कम्पन और नव जीवन चाहिए उसका एक अल्पाश भी नही दिखाई देता है, और उत्साह की अपेक्षा असतोष तथा ह्रास की अपेक्षा क्रन्दन-रव अधिक सुनाई पड़ता है, तथापि जागृति के चिह्न भी सब ओर दिखाई पडते है। दीर्घकालीन दासता की ह्रासमयी वृत्तियो और दो महायुद्धो के सहारक परिणामो से पीड़ित मानवता की विषमताओ की मोहमयी कारा से हम पूर्णतया मुक्त

नही हो सके है, फिर भी हम अपने आत्म-गौरव को पहचानने लगे हैं और हमारा हीनता-भाव भी दूर हो चला है। स्वराज्य से हमारा स्वाभिमान वढा है। हम किसी देश के पिछलग्गू नही हैं। हमारी वाणी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों मे सुनी जाती है और वह अपना महत्त्व भी रखती है।

स्वराज्य से हमारी आर्थिक समस्याएं चाहे हल न हो (कल्पवृक्ष इस संसार मे नही है), फिर भी हम उनके हल की ओर अग्रसर हो चले है और यह निश्चित है कि 'मार्गस्थो न सीदति'—जो चल पडता है वह दुःख नही पाता है। पड़ा रहना ही कलियुग है और चलते रहना ही सतयुग है—

कलि शयानो भवति सजिहानस्तुद्वापरः।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ॥

अर्थात् सोने वाला कलियुगी होता है, अंगड़ाई लेने वाला द्वापर का, जो उठ खडा होता है वह त्रेता का होता है और चलना सतयुग का लक्षण है। हम द्वापर की अंगडाई से त्रेता के उत्थान-युग मे आ गए और सतयुग का चलना भी सीख रहे है। हमारी पंचवर्षीय योजना की आशिक उपलब्धियाँ यह बतलाती है कि हमने 'चरैवेति' अर्थात् चलते रहो का पाठ प्रारम्भ कर दिया है। नई प्रयोगशालाएं खुल रही है। हमारे वैज्ञानिक मानवहिताय अणुशक्ति के अनुसन्धान मे भी लग गए है। रेल के इंजनों के निर्माण में एक शती की प्राप्ति कर चुके है। अंग्रेजी राज्य के १५० वर्षो मे जो सफलता भारत को नही मिली थी, वह स्वराज्य के चार वर्षो में मिल गई। हवाई जहाजों का भी निर्माण प्रारम्भ हो गया है। बिजली और पानी देने की वृहदाकार योजनाएं चल रही है। हम चल पड़े है, हमारे पैर कभी-कभी लड़खडाते भी हैं और हम गिर भी पडते है, किन्तु पड़े नही रहेंगे, यही हमारी आशा है।

लड़खड़ाने के कारण—उन्नति के इतने प्रयत्न होते हुए भी हमको अभीष्ट सफलता नही मिली है, इसके कई कारण है। सबसे पहली बात तो यह है कि दलबन्दियो के कारण निर्माण-कार्यो मे बहुत सी बाधाएँ उपस्थित हो जाती है और देश की शक्ति उन्नति के कार्यो मे केन्द्रस्थ होने के स्थान पर विरोध और सघर्ष मे बिखर जाती है। उत्पादन भी निर्बाधरूप से नहीं हो पाता, समतापूर्ण लाभ-वितरण के नाम पर उत्पादन को ही स्थगित कर देने वाली हड़तालें खडी हो जाती हैं। व्यापार और सरकार, पूंजीपतियों और मजदूरों की समस्याएं उत्पादन में बाधक होती है। सरकार के बढे-चढे खर्चे आर्थिक कठिनाइयां उपस्थित कर देते हैं। इनके हल के लिए दोनों ओर से समझौते की भावना चाहिए। दल और पार्टियों से देश बड़ा है। हमारे

विद्यार्थी भी यह भूल जाते है कि देश उनका है, सरकार चाहे जिसकी हो, देश की सम्पत्ति का नाश करने और तोड-फोड़ करने मे वे अपना ही नुकसान करते हैं।

इन सब कारणो से वढकर कारण हममे नैतिकता का अभाव है। हमारा यह अभाव ही हमारी योजनाओ की विफलता या अमितव्ययता का कारण वनता है। देश की जो आर्थिक न्यूनताएँ और असफलताएँ हे उनका कारण दैवी प्रकोप नही है, 'दैव दैव आलसी पुकारा', उनका एकमात्र कारण हमारी नैतिक दुर्वलता है। इस नैतिक दुर्वलता को दूर करने के लिए गाधीजी प्रतिपादित सरल जीवन और उच्च विचार के कार्य को अपनाना होगा। विलासमय जीवन के वढे हुए खर्चो की पूर्ति के लिए हमे प्रायः वेई-मानी का सहारा लेना पडता है। इसके अतिरिक्त हममे देश के प्रति गौरव-भावना जागृत करने की आवश्यकता है। हममे यह गौरव-भावना उत्पन्न होने पर कि हम स्वतन्त्र देश के नागरिक है अतः हम कोई काम ऐसा न करे जिससे देश को हानि पहुँचे या उसका गौरव घटे, हममे से वहुत सी वुराइयाँ दूर हो जाएँगी।

हमारे कवियो ने प्राचीनो की गौरव-गाथा का गान वडे उच्च स्वर से किया है किन्तु नवीन भारत के प्रति उनकी उपेक्षा सी रही है। स्वतन्त्र भारत के जयघोष से उनकी वाणी मुखरित नही हुई है। उनकी दृष्टि अभावों की ओर अधिक गई है। हममे जहाँ दोष है, वहाँ कुछ थोडी प्रयत्नशीलता भी है। उसके लिए हमारे कवियो ने, धर्मोपदेशको और लोकमत के नायको ने हमारी पीठ नही ठोकी है। यदि वे ऐसा करे तो उनके साधुवाद से नव भारत का हृदय उत्साह से आन्दोलित हो उठेगा और सच्चे वीर रस का सचार होगा। हमारे कवियों ने तेनसिह के साहसी कार्य की भी उपेक्षा सी की है।

हमारा लक्ष्य—हमारा लक्ष्य यह है कि देश मे पूर्ण आर्थिक और सास्कृतिक सम्पन्नता के साथ पूर्ण आन्तरिक शान्ति हो और वाहर भी हमारी सद्भावनाएँ फलवती होकर शान्ति का साम्राज्य स्थापित करे। भीतरी और वाहरी शान्ति एक-दूसरे पर निर्भर हे। वाहरी शान्ति के विना हमारा देश उन्नति के पथ पर अग्रसर नही हो सकता है, और भीतरी शान्ति के विना हम दूसरो को शान्ति का उपदेश नही दे सकते हे। भीतरी शान्ति के विना शान्ति का उपदेश चिराग तले अँधेरे जैसी वात होगी। हम आन्तरिक शान्ति तभी स्थापित कर सकेंगे जव सव सम्प्रदायों और सव दलो मे यह भावना उत्पन्न

कर सकें कि सब सम्प्रदाय तथा दलो को अपनी-अपनी संस्कृति और विचार-धारा के अनुकरण करने की स्वतन्त्रता है, यदि उनकी नीति और संस्कृति देश और देशवासियो के लिए घातक न हो। सौभाग्य से हमारा सविधान इस सम्बन्ध में पर्याप्त रूप से उदार है। हमारी नीति निर्बलों और अल्पसंख्यकों के शोषण की नही वरन् पोषण की है। इसी नीति का प्रतिपादन 'साकेत सत' मे डाक्टर बल्देवप्रसाद मिश्र ने किया है—

सभी निज सस्कृति के अनुकूल,
एक हो रचें राष्ट्र-उत्थान।
इसलिए नही कि करें सशक्त
निर्बलो को अपने में लीन—
इसलिए कि हो विश्व-हित-हेतु
समुन्नति-पथ पर सब स्वाधीन।

इसी नीति को हम देश के भीतर और देश के बाहर भी बरतना चाहते है। हम चाहते है कि हमारे देश मे एकता मे अनेकता और अनेकता मे एकता का सुसम्पन्न साम्य हो। 'स्टीमरोलर' का साम्य नही चाहते है वरन् सर्वोदयमय सगीत का सा साम्य हमारा अभीष्ट है, जिसमे विभिन्न जातियाँ अपनी सस्कृति को रक्षा करती हुई देश मे धर्म, अर्थ और काम की अन्विति के साथ भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि का अनुभव कर सकें।

धर्म, अर्थ, काम का समन्वय—हमारे यहाँ चार पुरुषार्थ माने गए हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मोक्ष धर्म तथा काम के साम्य से प्राप्त मुक्तावस्था है। इस ससार मे हमको धर्म, अर्थ और काम से मतलब है। धर्म, अर्थ और काम की साधना जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन मे आवश्यक है, उसी प्रकार राष्ट्र के लिए भी परम वाछनीय है। इस सम्बन्ध मे मैं वाल्मीकि रामायण से एक उद्धरण देने का मोह सवरण नही कर सकता। भगवान् रामचन्द्र चित्रकूट मे आए भरत से कुशल प्रश्नो के साथ यह पूछते हैं कि अर्थ से धर्म मे तो बाधा नही पडती और धर्म से अर्थ मे किसी प्रकार का व्यवधान तो नही पडता और प्रीति और लोभ तथा काम से धर्म और अर्थ मे तो बाधा नही पड़ती?

कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे॥

यही भारतीय समन्वयात्मक और सतुलनपूर्ण जीवन का दृष्टिकोण था।

आजकल के लौकिक राज्य मे धर्म को कुछ शङ्का की दृष्टि से देखा जाता है किन्तु शङ्का की वस्तु धर्म नही है वरन् धर्म का दुरुपयोग है। धर्म तो समाज को धारण किए रहता है। वह हमको एक सूत्र मे बाँधता है। जब हमारी एकसूत्रता पार्थक्य के बीज बोती है तभी वह सम्प्रदाय के रूप में परिणत हो जाती है। हमे अपने अङ्ग पुष्ट बनाने है किन्तु उसके साथ यह भी याद रखना चाहिए कि अङ्ग स्वतन्त्र नही है वरन् अङ्गी के ही अङ्ग है। धर्म के भी दो पक्ष हे—साधारण धर्म और विशेष धर्म। साधारण धर्म सब धर्मो का प्रायः एकसा है। मनुस्मृति मे बतलाया हुआ दश लक्षण वाला धर्म मनुष्य मात्र के लिए एक है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

महात्मा गाधी के बतलाए हुए एकादश व्रत भी ऐसे ही है। धर्म यहाँ के चार पुरुषार्थो मे एक है। धर्म ईश्वर या परम सत्तापरक नीति-शास्त्र है। धर्म की साधना मे ही नैतिक साधना है और नैतिक साधना राष्ट्रीयता का प्रथम सोपान है। धर्म से अविरुद्ध अर्थ और काम भी राष्ट्र और व्यक्ति दोनो के लिए वाछनीय है। अर्थ जब धर्म-विरुद्ध होता है तभी कलह का कारण होता है। चोर-बाजारी और भ्रष्टाचार धर्म-विरुद्ध अर्थ-सग्रह के रूप हे। दूसरे राष्ट्रो को शक्तिपूर्वक दबाकर उनसे आर्थिक लाभ उठाना अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे धर्म-विरुद्ध अर्थ-सग्रह है।

हमारे यहाँ त्याग के साथ अर्थ का भोग बतलाया गया है। इस देश का आध्यात्मिक साम्यवाद कहता है कि सारा ससार ईश्वर से व्याप्त है। इसलिए त्याग के साथ भोग करो। दूसरो के माल पर कुदृष्टि मत रखो। दूसरो के भाग को छोडकर हमको भोग करने चाहिए। यही नीति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रो मे बरतनी चाहिए।

अर्थ का त्याग सभी को करना चाहिए। पूर्ण साम्यवाद सम्भव नही है। यद्यपि सभी कार्य राष्ट्रीय महत्त्व रखते है फिर भी सब धान बाईस पसेरी नही बेचे जा सकते। कार्यो की महत्ता मे अन्तर करना होगा और उसी मात्रा मे उनके करने वालो की सुख-सुविधाओ मे अन्तर देना पडेगा। किन्तु इसकी एक सीमा है। इस सीमा को स्वीकार करना ही सच्चा अपरिग्रह है। इस सीमा को अधिकारी वर्ग तथा पूँजीपतियो आदि सभी को मानना होगा तभी अर्थ धर्माविरुद्ध होगा। वह सीमा स्वेच्छापूर्ण त्याग से आ सकती है। स्वेच्छापूर्ण त्याग सघर्ष और कटुता को कम कर सकता है।

भगवान् कृष्ण ने गीता मे कहा है—'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभः' (मैं धर्म से अविरुद्ध काम हूँ)। काम सौन्दर्य और सृजन-शक्ति का प्रतीक है। विश्व का जो मंगल-विधान है, संसार में जो कला-वैभव है, वह सब काम का ही विस्तार है। हमको अपना राष्ट्र सुन्दर और कलामय बनाना है। कला और साहित्य की रक्षा और समृद्धि करनी है।

अन्य समन्वय—इन्ही समन्वयो के साथ हमको भगवान् के दैवी गुणो—शील, शक्ति और सौन्दर्य—को अपनाना है। ये भी धर्म, अर्थ और काम के ही रूप है। शील बिना शक्ति राक्षसी बन जाती है। शील के अभाव में ही तो हीरोशीमा के दृश्य घटित हो सके थे। शक्ति के बिना सौन्दर्य अपनी रक्षा नही कर सकता है और सौन्दर्य के बिना शील की भी रमणीयता जाती रहेगी। इसी प्रकार भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय करना होगा। हमारे लिए पश्चिम के जीवन-सौष्ठव के साथ भारतवर्ष की आध्यात्मिकता चाहिए। वही भौतिकवाद के तम को मिटा सकती है।

पश्चिम का जीवन सौष्ठव हो विकसित
विश्वतन्त्र में वितरित,
प्राची के नव आत्मोदय से
स्वर्ण-द्रवित भू-तमस तिरोहित।

समन्वयवाद का पक्ष मैंने किसी चलती पुकार या नारे के रूप में नही किया है। समन्वयवाद मानवतावाद का ही रूपान्तर है। समन्वयवाद मनुष्य को एकांगिता से बचाता है और दूसरे पक्ष मे भी सत्य के अंश को खोजने के लिए उद्यत करता है। दूसरे पक्ष के सत्य को न स्वीकार करने के कारण ही लड़ाई-झगड़े होते है। जिस मात्रा मे दूसरे पक्ष की स्वीकृति होती है, उसी अंश मे संघर्ष की सम्भावना कम हो जाती है। समन्वय सत्य की खोज पर आश्रित होना चाहिए। अन्ध समन्वय बेमेलपन उत्पन्न कर देगा। आन्तरिक और वाह्य शान्ति के लिए विभिन्न पक्षो के सत्यांश की खोज और उनकी उदार स्वीकृति आवश्यक है। यह समन्वय और समझौते की भावना भारतीय संस्कृति की विशेष देन है।

भारत की विश्व को देन—भारत जगद्गुरु रहा है। ज्ञान की ज्योति की किरणें भी उसी के तपोवनो मे पहले-पहल प्रस्फुटित हुई थी। 'प्रथम प्रभात उदय तव गगने, प्रथम सामरव तव तपोवने।'

'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' की एकात्मवाद की व्यापक और उदार दृष्टि पहले-पहल भारत को ही मिली थी। एकात्मवाद के भीतरी साम्य के बिना पश्चिम

का वाह्य साम्य निरर्थक है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का पाठ जब तक हृदयगम नही होता तब तक साम्यवाद की दुहाई देना विडम्बना मात्र है। यूरोप के देश शक्ति की घुडदौड कर रहे है। अणु बम के पश्चात् उदजन बम। वे प्रेम से नही, शक्ति के आतक से शान्ति की स्थापना चाहते है। यह नीति पारस्परिक भय और अविश्वास को जन्म देती है। कोरिया के रक्तपात से रणचण्डी का खप्पर नही भरा है। सशक्त राज्यो की रावण की भाँति युद्ध के लिए भुजाएँ फडक उठती है। मानवता की रक्षा के नाम पर मानवता की ही हत्या हो रही है। हमको 'कामायनी' की इडा के शब्दो मे युद्धकामी शक्तिशाली देशो से कहना पडेगा—

क्यो इतना आतक ? ठहर जा ओ गर्वीले।
जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी ले।

यद्यपि युद्ध की विभीषिका से मानव जाति को बचाने के सतत् प्रयत्न संयुक्त राष्ट्र-सघ द्वारा हो रहे है तथापि पाश्चात्य देशो को भारत की ऊर्ध्वगामिनी व्यापक दृष्टि की आवश्यकता है। वह दृष्टि मनुष्य के ईश्वरत्व को सामने लाकर उसके आन्तरिक वैभव का उद्घाटन करेगी। भारत शक्तिशाली बनना अवश्य चाहता है किन्तु उसकी शक्ति 'परेपा परिपीडनाय' न होगी और न वह दूसरो पर आतक जमाने के लिए शक्ति का सग्रह करेगा। उसकी शक्ति 'परेषा रक्षणाय' होगी। उसने 'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु' का पाठ अपने जीवन-प्रभात मे पढा था, उसी को आज भी दुहराता है। वह सबका बराबर का अधिकार भी स्वीकार करता है। 'विध के बनाये जीव जेते है जहाँ तहाँ, खेलत फिरत तिन्हे खेलन फिरन देहु।' उसकी अहिसात्मक निर्वैरता उसकी विशेषता है। वह किसी का शत्रु नही है और न किसी को अपना शत्रु बनाना चाहता है। वह सब के साथ सहयोग करेगा। रक्षा मे वह सबका साथी है, सहार मे वह सबसे अलग है। यही शान्ति का पाठ उसने पढा है और यही वह दूसरो को पढाना चाहता है। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया' यही सदेश वह शक्ति के ज्वर से पीडित मानवता को देना चाहता है। वह सिखाता है कि हमको अपनी विनाशनी शक्ति पर गर्व नही करना चाहिए वरन् अपनी विधायनी शक्ति से सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित करना है।

पश्चिम के अत्यधिक बुद्धिवाद ने हमारी दृष्टि को भेदो की ओर अधिक प्रेरित किया है। भारतीय दृष्टि भेदो के बीच मे वसने वाली एकता की ओर मानव का ध्यान आकर्षित करेगी। जितना हम ऊँचा उड़ते है,

उतनी हमारी दृष्टि व्यापक होती है और उतनी ही मात्रा में भेद और कटुत विलीन हो जाती है। दुनियाँ मे जो संघर्ष है वह आंशिक दृष्टि के कारण है जब हम सारे संसार के लाभालाभ के दृष्टिकोण से देखते है तब क्षुद्र स्वार्थ से उत्पन्न हुई कटुताएँ विलीन हो जाती है। भारत राष्ट्रीयता को उसी अ मे अपनाना चाहता है जहाँ तक कि अपने देशवासियो का पिछड़ापन दूर ह सके। वह अपने चारो ओर राष्ट्रीयता की तंग दीवारे खड़ी करके अपन दृष्टि को संकुचित नही करना चाहता। न वह लोहे के परदे चाहता है, लकडी के। उसकी संस्कृति का जन्म तपोवनों के उन्मुक्त वातावरण हुआ है, वह अपनी दृष्टि को भी उन्मुक्त और व्यापक रखना चाहता है।

[*'साप्ताहिक हिन्दुस्तान'*, ७ फरवरी, १९५४

रामराज्य और वर्तमान भारत

आत्म-बल की मूर्ति पूज्य बापू के नेतृत्व मे हमने रक्त-रहित अहिंसात्मक धर्मयुद्ध लडकर अपने को दासता के दृढ बन्धनो से मुक्त किया। हमने दिल्ली के ऐतिहासिक लाल किले पर सत्य और अहिसा के प्रतीक स्वरूप तिरगे झण्डे को फहराने का चिर-सचित स्वप्न चरितार्थ किया और पूर्ण हर्षोल्लास के साथ प्रथम राष्ट्रीय महोत्सव मनाया। स्वतन्त्रता देवी के शुभ स्वागत के लिए दीप-मालाएँ सजाई। स्थान स्थान पर बैड-वाजो के साथ राष्ट्रीय गान प्रतिध्वनित हुआ। सैनिक प्रदर्शन हुए। गीत-वाद्य के साथ प्रीतिभोज हुए। उत्साह का पारावार उमडा। किन्तु क्या इतने के लिए ही महात्मा गाधी ने देश के नेतृत्व का भार अपने ऊपर लिया था ?

यह तो रामराज्य के विशालतम भवन के शिलान्यास का महोत्सव था। स्वतन्त्रता द्वारा हमको राष्ट्र-निर्माण के कार्यक्षेत्र मे प्रवेश करने के लिए निमन्त्रण पत्र मिला था कि हम अपने भविष्य के सम्बन्ध मे स्वयं सोचे। पहले विदेशी लोगो को ही हमारे हिताहित के सोचने का अधिकार था। हमारे लिए स्वय विचार करना राजद्रोह था। बहुत से कार्यक्षेत्रो मे हमारा प्रवेश वर्जित था। दूसरो के नेतृत्व मे मूर्ख पशुवत् लाठी के बल चलाया जाना हमारे स्वाभिमान के विरुद्ध था। स्वतन्त्रता ने हमारी खोई स्वाभिमान की थाती को हमे सौपा। स्वतन्त्रता की सबसे वडी देन यही है कि हमारा चिरबन्दी स्वाभिमान मुक्त हुआ, हम विदेशियो के पिछलगू नही रहे। अन्तर्राष्ट्रीय परिषदों मे हमारा शान्ति सन्देश गूँजने लगा। विदेशो मे हमारा मान बढा और स्वदेश मे भी अन्न-वस्त्र की चाहे अपेक्षाकृत कमी रही हो किन्तु कविरत्न सत्यनारायण जी के शब्दो मे 'देश ही मे विदेश भयो अब जानिये' की बात नही रही। हमारे बालको के लिए, बिना किसी जाति-पाँति और धर्म तथा सम्प्रदाय के भेद-भाव के, ऊँची से ऊँची नौकरियो के द्वार उन्मुक्त हो गए। हमने विशाल आयोजनाएँ बनाई। हमारी कल्पना को पख पसारने का अवसर मिला। वातावरण का अवरोध दूर हुआ। नई-नई प्रयोगशालाएँ खुली और वैज्ञानिक चिन्तन और नई कार्य-प्रणालियो का विकास हुआ। हम लडखडाए और कही-कही गिरे भी किन्तु हममे अपने पैरो खडे होने का बल आया। दूसरो से बताए हुए राजपथ की अपेक्षा स्वधर्म की भाँति स्वतन्त्र खोजा हुआ कटकमय मार्ग भी श्रेयस्कर होता है।

हमारी सफलता का क्षितिज कुछ दूरवर्ती अवश्य रहा, किन्तु मृग-मरीचिका नही सिद्ध हुआ। वडे देश की वडी समस्याएँ होती है। विफलताओ का होना तो प्रायः अवश्यम्भावी होता है किन्तु एक स्वतन्त्र देश मे जहा वाणी की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है, वे कुछ अधिक विस्तृत दिखाई देती है। अभावों के रंगमच का दृश्य-परिवर्तन हुआ है। पहले किसान लोग अभावों के शिकार थे। अव मध्यवर्ती लोग उसके शिकार वने है। वे लोग ही अधिक मुखर होते है। किन्तु यह वात नही कि यह एक दुःस्वप्न मात्र है। इस विभीपिका का भी कुछ आधार है।

असन्तोप की भावना—यह असन्तोप उपेक्षा-योग्य नही, क्योंकि प्रजातन्त्रात्मक शासन मे प्रजा का सन्तोप शासन की सफलता और उसके स्थायित्व का मापदण्ड है। यह असन्तोप कुछ तो वास्तविक है और कुछ काल्पनिक। काल्पनिक असन्तोप प्रेमपूर्ण वार्तालाप द्वारा सरकार की कठिनाइयाँ वतलाकर और अभाव के कारणो पर प्रकाश डालकर दूर किया जा सकता है। यद्यपि स्वराज्य के आगमन से अफसरो तक पहुँच अपेक्षाकृत अविक सुलभ हो गई है, तथापि आजकल भी कागजी घोडे दौडाने और खानापूरी करने की प्रवृत्ति अधिक है। प्रदर्शन हमने अंग्रेजो से विरासत में पाया है। सरकारी शासन मे लाल फीते का व्यापार किसी न किसी अश में अवश्य रहेगा किन्तु उसकी पेचीदगी अवश्य कम की जा सकती है। अधिकारियो मे सेवा-भाव कुछ अधिक मात्रा मे लाया जा सकता है। लोगों में जहाँ यह धारणा वन गई है कि सरकार शोपण करने के लिए है और वे शोपण के वलि-वकरे है तथा उनमे और सरकार मे पार्थक्य की भावना वढ रही है, वहा सरकार की ओर से जनता के अज्ञान को दूर करने का सहृदयतापूर्ण प्रयत्न नही किया जाता है। जन-सम्पर्क वढाकर जनता की वास्तविक और काल्पनिक शिकायतो को दूर करने का प्रयत्न कम किया जाता है, यदि किया जाता है तो खानापूरी के लिए। जहाँ एक ओर दलवन्दी में आकर सरकारी कार्यो मे कोई न कोई छिद्रान्वेपण कर उस पर प्रसन्नता प्रकट करने की प्रवृत्ति पाई जाती है वहा अविकारी वर्ग में ऐसे समालोचको के प्रति 'राजा करे सो न्याय' की उपेक्षावृत्ति वढती जाती है। आलोचक लोग यह भूल जाते है कि सरकार हमारी है और यदि सरकार गलती करती है तो हमारे लोग ही गलती करते हैं। हमको प्रसन्न होने की अपेक्षा लज्जा से सिर नीचा कर लेना चाहिए। यदि सरकार में भ्रष्टाचार है तो हमारे लोग ही उस भ्रष्टाचार मे योग देते हैं। भ्रष्टाचार के दूर करने मे जो हमारा उत्तरदायित्व है उसको हम नहीं निभा रहे हैं। हम अनुचित लाभ उठाने के लिए

भ्रष्टाचार को कितना प्रोत्साहन देते है। यह हम मानते है कि भ्रष्टाचार में आर्त और अर्थार्थी की अपेक्षा भ्रष्टाचार को स्वीकार करने वाले का अधिक उत्तरदायित्व है किन्तु हम गरजमन्द को भी उत्तरदायित्व से मुक्त नही कर सकते। हमारे अखबार वालो ने भ्रष्टाचार के खिलाफ प्रबल जनमत नही उत्पन्न किया है, न काग्रेस और अन्य राष्ट्रीय सस्थाओ ने भ्रष्टाचार के कारणो पर गम्भीरतापूर्वक सोचा है।

भ्रष्टाचार—भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए हमे अपने जीवन में आमूल परिवर्तन लाना है। हमने आर्थिक मूल्यो को अधिक महत्त्व दिया है। अपरिग्रह का तो पाठ दूर रहा, किन्तु परिग्रह के लिए भी हमने सात्विक मार्गो को नही अपनाया है। जब तक हम अपने जीवन मे सरलता नही लायेगे, जब तक हम आर्थिक मूल्यो की अपेक्षा नैतिक मूल्यो को अधिक मान न देगे, जब तक हम आलस्य को दूर कर ईमानदारी से काम करना नही सीखेगे, तब तक भ्रष्टाचार नही दूर हो सकता। हम अपनी विद्या, अपने धन, अपने परिश्रम का अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहते है। हम लोग सभी एक दूसरे का शोषण करना चाहते है। हम वस्तु को अपने ही दृष्टिकोण से देखते है। आत्मौपम्य दृष्टि हमने नही सीखी। इसीलिए हम न्यायालयो की शरण मे जाना चाहते है। हम वाजिबी से कुछ अधिक चाहते है। हम आलस्य या प्रमाद-वश ठीक समय पर अदालत मे नही जाते। उस देरी की कमी को हम रिशवत से पूरी करते है।

महात्मा गाधी सरल जीवन की पुकार इसीलिए करते थे कि हमारी आवश्यकताएँ कम हो। किन्तु हम अपनी आवश्यकताओ को बढाते जाते है। काग्रेसजनो को जहाँ योग का जीवन व्यतीत करना था वहाँ वे भोग का जीवन व्यतीत कर रहे है। हम अपना जीवन-स्तर ऊँचा करना चाहते है किन्तु पचवर्षीय योजना मे नैतिक स्तर को ऊँचा करने की नही सोचते।

देश का मान आर्थिक सम्पन्नता से इतना नही होता जितना कि नैतिक सम्पन्नता से। प्राचीन भारत की महत्ता उनकी नैतिकता मे थी, महात्मा गाधी ने जो रामराज्य का स्वप्न देखा था वह इसी नैतिक स्वराज्य का था। रामराज्य का आदर्श भौतिक सम्पन्नता के साथ नैतिक सम्पन्नता था। गोस्वामी तुलसीदासजी उसको नीचे के शब्दो मे व्यक्त करते है—

बयरु न कर काहू सन कोई, राम प्रताप विषमता खोई।
दैहिक दैविक भौतिक तापा, रामराज नही काहुहि व्यापा।

सब नर करहि परसपर प्रीती, चलहिं स्वधर्म निरत स्रुति रीती।
अल्प मृत्यु नहि कवनिउँ पीरा, सब सुन्दर सब विरुज सरीरा।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना, नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।
सब निर्दम्भ धर्मरत पुनी, नर अरु नारि चतुर सब गुनी।
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी, सब कृतग्य नहिं कपट सयानी।
एक नारि व्रत रत सब झारी, ते मन वच क्रम पति-हित-कारी।

इस वर्णन मे थोडा काव्य चाहे अवश्य हो, स्वराज्य और सुराज्य का इसमे पूरा कार्यक्रम आ गया है। व्यक्ति और समाज दोनों ही सम्पन्न थे और दोनों मे पूर्ण सामजस्य था। 'चलहि स्वधर्म निरत स्रुति रीती।' जहाँ मर्यादा का पालन होगा वहाँ व्यक्ति और समाज मे सामंजस्य होगा। फिर 'वयरु न कर काहू सन कोई, राम प्रताप विपमता खोई।' यह वैर और सघर्ष रहित समता थी। वलपूर्वक वर्ग-संघर्प से लाई हुई समता न थी वरन् स्वारोपित शासक वर्ग की ईमानदारी से लाई हुई समता थी। इसमें सव स्वस्थ और नीरोग थे। सब कृतज्ञ थे। दूसरे के किए हुए उपकार को भूलते न थे। फिर समाज में सामजस्य क्यों न होता? रामराज्य में पारिवारिक कलह भी न थी क्योकि सव एकनारिव्रत धारण किए हुए थे, और स्त्रियाँ भी एकपति-व्रत का मन, कर्म और वचन से पालन करती थीं। दरिद्रता भी नही थी और निरक्षरता भी नही थी।

हमारी सरकार इनमे से वहुत सी वातो को चरितार्थ करने का सराहनीय प्रयत्न कर रही है। आर्थिक सम्पन्नता के लिए योजनाएँ वन रही हैं। शिक्षा का प्रसार हो रहा है। जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न जारी है किन्तु 'वयरु न कर काहू सन कोई', 'सव नर करहिं परसपर प्रीती' का जैसा प्रयत्न चाहिए, वैसा नही हो रहा है। गैर सरकारी दलों के प्रति अविश्वास से काम लिया जाता है। वे दल भी सरकार का विश्वास प्राप्त करने का प्रयत्न नही कर रहे हे। दोनो ओर अविश्वास है। दोनों ओर पूर्वाग्रहो से काम लिया जा रहा है। रामराज्य इस युग मे भी स्थापित हो सकता है। राम की सी शासक वर्ग मे नैतिकता और त्याग-भावना अपेक्षित है।

['साप्ताहिक हिन्दुस्तान', २३ अगस्त, १९५३]

स्वतंत्र भारत
—उपलब्धियाँ और न्यूनताएँ—

भगवन् ! मेरा देश जगाना ।
स्वतत्रता के उसी स्वर्ग मे, जहाँ क्लेश नही पाना ।।
रुचे जहाँ मन को निर्भय हो ऊँचा शीश उठाना ।
मिले बिना किसी भेद-भाव के सबको ज्ञान खजाना ।।
तग घरेलू दीवारो का बुने न ताना-बाना ।
इसीलिए बच गया जहाँ का पृथक पृथक हो जाना ।।
सदा सत्य की गहराई से शब्द मात्र का आना ।
पूर्णता की ओर यत्न कर जहाँ भुजा फैलाना ।।
विमल विवेक सुलभ सोते का जो रस पूर्ण सुहाना ।
रूठ भयानक मरुस्थली मे जहाँ नही छिप जाना ।।
जहाँ उदार शील भावो का भावै नित अपनाना ।
सच्चे कर्मयोग मे प्रति जन सीखे चित्त लगाना ।।

(कवीन्द्र रवीन्द्र की एक कविता का स्व० सत्यनारायण कृत अनुवाद)

यह था कवीन्द्र रवीन्द्र का स्वतत्रता का स्वप्न। पूज्य बापू के नेतृत्व मे असख्य नर-नारियो के तप, आत्म-त्याग और बलिदान के पुण्य फल स्वरूप हमको पन्द्रह अगस्त, सन् १६४७ को स्वतत्रता के अरुणोदय के दर्शन हुए। देश का विभाजन और उसके पश्चात् की मार-काट दुखद घटनाएँ रही अवश्य किन्तु हमको स्वतन्त्रता मिली। स्वतन्त्रता के साथ खोया हुआ आत्म-सम्मान मिला। 'देश ही मे भयो विदेश अब जानिए' की बात नही रही। हम राजनीति मे किसी के पिछलगू नही रहे। अन्तर्राष्ट्रीय सभाओं मे हमारी आवाज गूँजती है। हमारे देश की एक नारी-रत्न को राष्ट्र सघ का सबसे ऊँचा पद प्राप्त हुआ था। कोरिया और हिन्द चीन की विराम संधियो मे हमारा प्रमुख हाथ रहा है। ये सब हमारे लिए गर्व और गौरव के विषय है।

आगे बढ़ते कदम—हमको अपनी उन्नति के साधनो पर सोचने का सुअवसर मिला है। नई नई योजनाएँ बनी और उनके चरितार्थ करने मे हम लगे। अन्न-वस्त्र की भीषण समस्या का, जो हमको युद्ध और

विभाजन के उत्तराधिकार में मिली थी, हल दृष्टिगोचर होने लगा। यद्यपि सभी प्रयोगों में निश्चित सफलता नही मिली और वहुत कुछ धन और जन-शक्ति का अपव्यय भी हुआ है तथापि हम कुछ पग आगे वढ़े है। हमको अपनी भूलो के सुधार का अवसर मिला हुआ है। हमने अपनी वहुत सी भूलों को सुधार लिया है या सुधार के निकट आ गए है। साम्प्रदायिकता के विष को हमने निर्ममता से दूर किया है। विस्थापितों को पुनर्वास और आजीविका तलाश करने में सहायता दी है। हमारे वालकों के लिए उच्च पद मिलने की सम्भावनाओं के द्वार खुल गए है। रेल के इञ्जन और मोटर कारे वनने लगी है। चारों ओर से औद्योगिक विकास की सम्भावनाएँ प्रकाश मे आ रही है। नहर घाटी योजना से जल-विद्युत् का उत्पादन बढ गया और उससे औद्योगिक उन्नति की भी आशा हो चली है। नई-नई प्रयोगशालाएँ खुल रही है जिनमें मौलिक वैज्ञानिक अनुसन्धानो की सफलता होने की आशा है। ज्ञान-विज्ञान में हमारा क्षितिज विस्तृत हो रहा है। स्वराज आया है। सवके लिए आया है। सव दलो के लोगों के लिए शक्ति प्राप्त करने और सरकार वनाने का अवसर मिला है। चुनाव ने इस वात को प्रमाणित कर दिया है यद्यपि यत्र-तत्र अनियमितता की भी शिकायतें हुई है। यह तो नही कहा जा सकता है कि वे निर्मूल थी, किन्तु सव दलो के लोगों को राजसभाओ में भाग लेने का हक है और कुछ मे तो उन्हे सरकार वनाने का भी अवसर मिला है। नौकरियाँ सभी दलो के लोगों के लिए खुली हुई है।

आलोचना का लक्ष्य क्या हो?—ये सव हमारी उपलब्धियाँ है। हमारे आलोचकों को इनको नगण्य न समझना चाहिए। हमारी न्यूनताएँ अवश्य है जिनकी उपेक्षा करना अनुचित होगा। सच्ची आलोचना का यही अर्थ है कि हमारी दृष्टि निष्पक्ष हो। न हम इतने दोषदर्शी हो कि कार्यकर्ताओ को हतोत्साह करदें और न अपनी सफलताओं के ऊपर इतने आत्म-संतोषी हों कि हम अपने दोषों के प्रति अन्धे हो जायँ। हम आलोचना करें तो इसलिए नही कि हमसे भिन्न दल वाले लोगो के हाथ मे सत्ता है वरन् गलतियो के लिए अपना भी उत्तरदायित्व स्वीकार करते हुए हम सरकार की आलोचना करें। इन गलतियों के निराकरण के लिए जनता का भी उत्तरदायित्व है। हम ईमानदारी से देखें कि हमने उनके निवारण में कहां तक योग दिया है। हम चाहे राजनीतिक सत्ता रखें या न रखें, देश हमारा है। उसकी समृद्धि और उन्नति पर हमको गर्व होना चाहिए, वह उन्नति चाहे जिस दल के लोगो द्वारा सम्पन्न हुई हो, और

जो बाते देश को नीचे गिराने वाली है उनके लिए भी हमारा उत्तरदायित्व है और उसके लिए हमे इतना ही लज्जित होना चाहिए जितना कि अपनी भूलों पर।

एक बड़ा दोष—हमारा एक दोष यह भी है कि अभाव और न्यूनताओ की हम सहज मे आलोचना कर बैठते है और उनको अतिरञ्जित रूप में भी दिखाते है किन्तु जो अभाव दूर हो जाते है उनके लिए साधुवाद का एक शब्द भी नही कहते। सफलताओ को भी विफलता का रूप दे दिया जाता है। इसलिए भावी उन्नति क्रम मे बाधा पडती है। अन्न के अभाव के लिए सब लोग चिल्लाते थे। जब वह दूर हुआ तब किसी ने सरकार के प्रयत्नों की सराहना न की। बुराई को हमारा मस्तिष्क जल्दी पकड़ता है। (खेद है कि अब उस सकट ने फिर भीषण रूप धारण कर लिया है।)

हम जो कुछ कर सके है वह यद्यपि उपेक्षा योग्य नही है, तथापि जो नही कर सके है वह अवश्य चिन्तनीय है और उसके लिए हम उत्तर-दायित्व से मुक्त नही हो सकते है। हम भ्रष्टाचार को कम नही कर सके है। स्वतत्रता स्वार्थसाधन का रूप बनती जा रही है। भ्रष्टाचार मे जनता का भी सहयोग रहता है, किन्तु इसके साथ ऊँचे अधिकारियो का भी दोष है। वे छोटे अफसरो के सामने ईमानदारी का इतना ऊँचा आदर्श नही उपस्थित कर सके है जितना कि चाहिए। वे जनता को सीधी तौर से लूटते नही है किन्तु उनको लुटने से बचने मे अधिक सहायता नही देते। वे जानते हुए भी अपने नीचे के अधिकारियो के दोषो की चाहे आलस्य वश और चाहे दया वश उपेक्षा करते है। इसके अतिरिक्त वे जीवन की सादगी का आदर्श उपस्थित नही करते जो अनुकरणीय बन सके। यदि छोटे अफसर जनता को लूटते हे तो बडे अफसर सरकार से अधिक लाभ उठाना चाहते है। वे अपनी सरकार समझ कर उसकी बचत करना नही चाहते है और अपनी सुख-सुविधाओ को चादर से बाहर पैर निकाल कर बढ़ाना चाहते है।

यह नहीं होना चाहिए—हमको इस बात की प्रसन्नता है कि हमारी सरकार ने खद्दर के साथ भी अपनी शान और शासकीय वैभव को कायम रखा है, किन्तु इस बात का दु.ख भी है कि उस वैभव का समान वितरण नही हुआ है। साधारण जनता का रहन-सहन का स्तर अभी ऊँचा नही उठा है यद्यपि उसके प्रयत्न हो रहे हे। छोटी रियासते विलय मे आ गईं है, उनके राजभवनो का विलास-वैभव जाता रहा, यह तो बुरा नही किन्तु

कहीं-कही साधारण सफाई का भी लोप हो गया है। राजमहल जनता के उपयोग की वस्तुएँ अवश्य वना दी जायँ किन्तु वे और उनके वाग-वगीचे शोभा की वस्तुएँ वनी रहे। उपयोगिता शोभा की विरोधिनी नही। इसके अतिरिक्त हमको थोड़ा यह भी दुःख है कि इस आवश्यक गौरव वैभव के नाम पर अपव्यय भी काफी हो रहा है और हमारे पैर सौर से वाहर निकलने को हो जाते हैं। उसके कारण छोटी तनुख्वाह वालों की हालत सुधर नही पाती है। दूसरी वात यह है कि वैभव-प्रदर्शन मे स्वदेशी का ध्यान कम रखा जाता है। हमारे खद्दर की सादगी को नित-नवीन नमूने की, समस्त सुख-सुविधाओ से सुसज्जित कारे लज्जित कर देती है। उच्च अधिकारियो का वैभव-प्रदर्शन जनता के कर-भार को हलका करने में वाधक होता है। हम लोग इस वैभव मे भारतीय सस्कृति को भी किसी अश मे भूल गए है। अंग्रेजी को आवश्यकता से अधिक आश्रय मिल रहा है।

राष्ट्र-जीवन को स्वच्छ वनाना नितान्तावश्यक—हमारे शासको ने भय और आतक का वातावरण बहुत अश मे मिटा दिया है यह वड़े सन्तोष की वात है, किन्तु वे अभी प्रेम और सेवा का वातावरण उपस्थित करने मे समर्थ नही हुए है। हमारे पब्लिक सर्वेन्ट्स सच्चे अर्थ मे जनसेवक नही वन सके हे। उन्होने प्रीति का भय उत्पन्न नही किया है, भय की प्रीति चाहे कम कर दी हो। स्वराज्य ने दलवन्दी को कम नही किया है। यद्यपि अंग्रेजी सभ्यता और खान-पान के प्रभाव से जातिवाद कुछ कम हो गया है और साम्प्रदायिकता भी किसी अंश मे कावू मे आ गई है तथापि भाषा के वहाने प्रान्तीयता को प्रोत्साहन मिल रहा है। स्थानीय प्रेम और निज भाषा प्रेम सराहनीय है, क्योकि वे एक प्रान्त को एक सूत्र मे वाँधते है, किन्तु जहाँ वे पार्थक्य का वीज वोते है वही वे निन्द्य हो जाते है। राजनीतिक दलवन्दी भी एक प्रकार की नई तंग घरेलू दीवारें तैयार कर देती है। दलवन्दी के मूल मे विभिन्न दलों की अहभावना और एकाङ्गिता तो कारण है ही किन्तु सरकार ने भी इतनी उदारता दिखाने की कोशिश नही की कि लोग दलवन्दी के वन्धनों को भूल जायं। इस उदारता की सीमा निर्धारित करना कठिन है, किन्तु यह अपेक्षित अवश्य है। हम लोग किसी दल की, जो विदेश का प्रश्रय नही लेता, देश-भक्ति में सन्देह नही कर सकते। विचारधारा मे अन्तर अवश्य है। उसके मूल मे जो सत्य है उसको पकड़ने की कोशिश नही की जाती है। कोई दल नितान्त आश्रय पर नही खड़ा होता। सत्य का अश सव मे होता है, उसके आधार पर हम एक दूसरे के निकट आ सकते है। अपने पक्ष को सत्ता के वल

पर नही प्रेम के बल पर समझाने की आवश्यकता है। न्यूनताएँ तो बहुत है और उनके कारण भी उतने ही प्रबल है। उनमे कुछ पर हम वश पा सकते है। और कुछ प्रबल प्राकृतिक कारणो से है, उन पर काबू पाने के लिए समय लगेगा। हमको और हमारे आलोचको को अधीर नही होना चाहिये। यह ठीक है कि अलाउद्दीन का चिराग हमारे पास नही है, किन्तु उनको हमे अपनी अकर्मण्यता का बहाना न बना लेना चाहिए।

इस शुभ अवसर पर प्रेम और सेवा भाव से भारत को सम्पन्न, समृद्ध और सशक्त बनाने का दृढ सकल्प करना हमारा पुनीत कर्त्तव्य है। हमारे अभाव बहुत है। हम उनको एक साथ दूर नही कर सकते किन्तु उनके लिए सचेत रहना और उनका अस्तित्व स्वीकार करना ही उनके दूर करने की पहली सीढी है। इसलिए हमको ईमानदार और प्रयत्नशील रहना चाहिए। ईश्वर हमारी सहायता करेगा।

"हारिये न हिम्मत बिसारिये न राम"

[*'नया भारत साप्ताहिक'*, १५ अगस्त, १९५४]

भारत के प्रथम चुनाव

१५ अगस्त सन् १९४७ को पूर्ण शान्तिमय साधनों द्वारा भारत ने विदेशी शासन के असह्य भार को अपने ऊपर से उतार कर शङ्ख-ध्वनि के जयघोष के साथ स्वतन्त्रता के अरुणोदय के दर्शन किए। स्वतन्त्र भारत का संविधान बना और उसमे अपने को पूर्ण स्वामित्व के अधिकार प्राप्त स्वतन्त्र गणतन्त्र घोषित किया। हमारे नए संविधान मे बिना किसी भेद-भाव के सबको वयस्क मताधिकार दिया गया है। इसके अनुकूल हमारे पहले चुनाव १९५२ के आरम्भ मे हुए। यह प्रजातन्त्र राज्य का सबसे बड़ा प्रयोग था। इसमे सत्रह करोड नर-नारियो ने भाग लिया। सारा भारत ३२९३ चुनाव-क्षेत्रों मे विभाजित किया गया, और उनमे २२४००० मतदान केन्द्र स्थापित किए गए। मतदान के लिए विशेष प्रकार की लोहे की पेटियाँ तैयार कराई गईं। मतों को गुप्त रखने की व्यवस्था की गई। पार्टियों के चिह्न निश्चित किए गए। मतदाताओ की सूचियाँ तैयार की गईं। हजारों लाखों अफसरों और कर्मचारियो की सेवाएँ इस कार्य मे नियोजित की गईं।

चुनावो मे धन और जनशक्ति का चाहे कितना ही व्यय अथवा अपव्यय हुआ हो किन्तु उनके द्वारा देश मे एक नई जागृति की लहर उठी और राजनीतिक दलो मे एक नई आत्म-चेतना आई। सन्धि-विग्रह के दाँव-पेच भी चले, किन्तु उनके कारण लोग जितने उत्पातो की आशका करते थे वे सब निर्मूल-प्राय सिद्ध हुए। स्वतन्त्र भारत के प्रजातन्त्रात्मक शासन मे वयस्क मताधिकार के इस विराट आयोजन की देश-विदेशो मे सराहना हुई। इन्डोनेशिया के लोग निर्वाचन की शिक्षा लेने आए। हमारा मस्तक गर्व से ऊँचा हुआ।

पढे-लिखे लोगो की अपेक्षा ग्रामीण स्त्रियाँ तथा बे-पढे सरल स्वभाव वाले ग्रामीण लोग अधिक वोट देने आए। यद्यपि यत्र-तत्र ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ धर्मप्राण ग्रामीण भाई जूते उतारकर निर्वाचन कक्ष मे घुसे और वोट भगवान् की पेटी पर बिल्व-पत्र की भाँति मत-पत्र को 'ॐ नमो वोट देवाय' के अव्यक्त मन्त्र-पाठ के साथ समर्पित कर लौट आए (भगवान् तो उनसे प्रसन्न हुए ही होंगे क्योंकि वे तो कह चुके हैं 'पत्र पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ' ....') तथापि अधिकांश लोगो ने वोट देने के गर्व का अनुभव किया और अपनी सूझ-बूझ और बौद्धिक स्तर के अनुकूल उनके

रहस्य मे पैठ करने की कोशिश की। जनता मे आतङ्क और भेड़ियाधसान की प्रवृत्ति का अभाव रहा। यदि ऐसा न होता तो मन्त्री लोग न हारते। जनता मे आतङ्क का अभाव देश के लिए एक शुभ लक्षण है। जनता ने अपने को राजनिर्माता समझा। सेठ-साहूकारो, धनी-मानी, सहायक-समर्थकों ने, धवल-धौत खद्दरधारी नेताओ और बालो की माँग और पतलून की क्रीज को राजनीतिक और भौगोलिक सीमाओ से भी अधिक महत्त्व देने वाले बाबू लोगो और साहबो ने निर्धन मैले-फटे वस्त्रो और बिवाई भरे पैरो वाले निम्नवर्ग के लोगो की मट्टी-फूस की कुटियो पर दो-दो बार हाजिरी दी और अथाइयो, चौपालो और हाट-बाटो, गन्दी और बदबूदार गलियो के देव-मन्दिर की भाँति चक्कर काटे। उनको देखकर मुझे गोस्वामी तुलसीदासजी की प्रसिद्ध चौपाई मे कुछ हेर-फेर करने की आवश्यकता पड़ गई—

'कठिन भूमि कोमल पदगामी,
चुनाव हेत बन बिचरहिं स्वामी।'

प्रोपेगैन्डा-प्रभू के पूर्ण वैभव मे दर्शन हुए। साइकिल से लगाकर जीप, मोटर सैलून, लारी, मोटर ट्रक और हवाई जहाज तक प्रायः सभी यान्त्रिक वाहनो का प्रयोग हुआ। सबल टैको की जरूरत नही पडी। बारह बरस बाद बैलो की जोडी के भी भाग जागे, यत्र-तत्र रथ और बैलगाडियो पर लाउड-स्पीकरो द्वारा प्रचार हुआ। पेट्रोल के साथ धन का भी धुआँधार हुआ। प्रेस वालो के सोते भाग जागे। अखबारवालो ने आँधी के आम लूटे। पदाकाक्षियो (उम्मीदवारो) के समर्थको ने 'मुद्दई सुस्त और गवाह चुस्त' की लोकोक्ति का समर्थन करते हुए गले फाड-फाडकर लाउडस्पीकरो से प्रतिद्वन्द्विता की और पहाडो को ढा देने वाला जोश दिखाया। नेहरू सरकार को उखाड़ फेकने की 'मसक फूँक जिमि मेरु उडाही' जैसी धमकियाँ चाहे हास्यास्पद क्यों न जंची हो, किन्तु यह अवश्य मालूम होने लगा था कि जलूस के नेता की जीत कुरुक्षेत्र युद्ध मे पाण्डवो की जीत से भी अधिक ध्रुव निश्चित थी।

चुनाव के उत्साह ने पदाकाक्षियो मे एक अपूर्व उत्साह का सञ्चार कर दिया। पलङ्ग पीठ से नीचे पैर न रखने वालो ने मीलो का पैदल सफर किया और जिनके मुँह पर ताला पडा रहता था वे व्याख्यान वाचस्पति बन गए।

'मूक करोति वाचल पंगु लघयते गिरिम्,
यत्कृपा तमहं बन्दे चुनाव चक्रम्।'

पार्टियो ने एक दूसरे के प्रति खूब कीचड़ उछाली। होली के पहले

ही होली का हुड़दङ्ग मच गया। गडे मुर्दे उखाड़े गए। किसी को गद्दार कहा गया तो किसी को देशद्रोही ! किसी को हैलेटभक्त तो किसी को अंग्रेज-परस्त। वैयक्तिक चरित्र पर भी कही छीटाकशी हुई। किन्तु कोई किसी का बुरा न मानता—

'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति।'

चुनाव चिन्हों की भी खूब हंसी उडाई जाती। कोई दीपक के लिए कहता चिराग तले अंधेरा, हंसिया और बालों के लिए कहा जाता बिना बोये-जोते ही फल काटने आ बैठे, रेल के लिए कहा जाता कि पटरी से उतर गई; झोंपड़ी के लिए कहा जाता झोपडी मे बैठकर महलों का स्वप्न देखने चले है, साइकिल के लिए कहा जाता कि साइकिल में पचर हो गया और बैलो की जोडी के लिए कहते कि बैल मरखने हो गए, सारी खेती चर गए। पदाकांक्षी सज्जन, जो जलूसो के गुल-गुपाडे को तूफाने-बदतमीजी समझते थे, चुनाव की बलिवेदी पर अपनी शान बान को बलिदान करने को तैयार हो गए। सारे शहर के बाजारो की, मुँह पर हवाइयाँ उडाते हुए, परिक्रमा करते उनको देखकर कभी-कभी मुझे दया आ जाती थी और भगवान् को धन्यवाद देता था कि मुझे सम्पन्न न बनाया, नही तो मैं भी इस प्रलोभन में पड़कर दारुयोषित (कठपुतली) की भाँति नाचता। कभी तो वे लोग जब शाम को घर लौटते होंगे तो अपनी चारपाई पर लेट कर यह कहते होंगे—'जो मैं ऐसा जानती प्रीति करे दुख होय, नगर ढिढोरा पीटती प्रीति न करिए कोय।'

सफल उम्मीदवारों की तो मेहनत सार्थक हो गई और उनके समर्थकों ने सुख की साँस ली। व्याह के भोर की भाँति उनको लाउडस्पीकरों और मोटरों के बिल चुकाने होंगे और जो हारे है उनके लिए तो पूर्ण सहानुभूति के साथ यही कहा जायगा—'माया मिली न राम।' इस स्थिति से बचने के लिए बहुतो ने बैठ जाना चाहा किन्तु आशा बडी मायाविनी है। प्राप्त के त्याग से अप्राप्त और अनिश्चित एवं काल्पनिक लाभ का त्यागना बहुत कठिन होता है। पद की लालसा को छोडते भी दुख और न छोड़ते भी दुख—'भई गति साँप छछूँदर केरी।' हारे हुए उम्मीदवारो ने अपनी हार मुस्कराते हुए मुँह से स्वीकार की है—'हानि-लाभ जीवन-मरण यश-अपयश विधि हाथ' की उक्ति में उनको आत्म-सन्तोष तो मिलता ही है, किन्तु हार के कारणों का विश्लेषण करने पर अन्य बातें भी मिल जाती है। कोई साथियों और समर्थकों की धोखेबाजी को रोते हैं तो कोई जनता की मूर्खता को कोसते हैं।

कोई कहते है औरों मे इतना त्याग नही कि संयुक्त मोर्चा बनाया जा सके। किन्तु प्रश्न यह होता है कि नाइयों की वरात मे जहाँ ठाकुर ही ठाकुर होते है वहाँ कौन अपने को छोटा समझे ! सभी अपनी खीज को छिपाने के लिए कहते है—हम तो सिद्धान्त की लडाई लडे थे। काग्रेस से हमारा विरोध नही अयोग्य उम्मीदवारो का विरोध था। इसमे सत्य की मात्रा अवश्य है, क्योकि काग्रेस ने सब जगह उम्मीदवारो की योग्यता का ध्यान कम दिया है और काग्रेस के प्रति सेवाओ को अधिक महत्त्व दिया है। ऐसे पदाकाक्षियो को सफलता का श्रेय काग्रेस पार्टी के पुण्य प्रताप को ही है। हारे हुए उम्मीदवारो के साथ पूर्ण सहानुभूति है क्योकि किसी की महत्वाकाक्षाओ पर तुषारपात होते अच्छा नही लगता है, किन्तु यह दुनियाँ इतनी साधन-सम्पन्न नहीं है कि सबकी महत्वाकाक्षाएँ सफल हो सके।

चुनाव ने उम्मीदवारो के सामने, चाहे वे काग्रेस के हों और चाहे और किसी पार्टी के हों, एक आइना रख दिया है जिसमे वे अपनी लोकप्रियता और लोकसम्मान का चित्र देख सकते हैं। सबको अपनी-अपनी थाह मिल गई होगी, यदि स्वार्थ ने आँखो पर पर्दा न डाला हो। दूसरी पार्टी का प्रोपेगैन्डा बहुत अश मे किसी पदाकाक्षी की सफलता के लिए उत्तरदायी हो सकता है, किन्तु वे लोग प्रायः अपनी योग्यता, शक्ति और लोकप्रियता के अनुमान के आधार का अतिक्रमण कर जाते है—कही-कही तो उसी मात्रा मे जिस मात्रा में नारद-मोह प्रसङ्ग मे श्री नारदजी ने अपनी सुन्दरता का किया था। यदि ऐसा न करते तो वे बहुत से अपव्यय से बच जाते। ये चुनाव काग्रेस के लिए भी नेत्रोन्मीलक हुए है। जिन पार्टियो को काग्रेस नगण्य समझती थी वे आगे आ गई और उनके उम्मीदवारो ने काग्रेस के उम्मीदवारों को नीचा दिखाया और जो लोग काग्रेस को मरा हुआ समझते थे उनको भी अपने मुँह की खानी पड़ी।

बहुत-सी जगह तो जैसे उत्तर-प्रदेश और बिहार मे 'यथा धाता पूर्वमकल्पयत्' की बात रही। काग्रेस का बाहुल्य के साथ बहुमत रहा और अधिकाश मत्री थोडे-बहुत हेर-फेर के साथ लौट आए। दो-तीन स्थानो मे जैसे मद्रास, त्रावनकोर-कोचीन आदि मे नई विश्वामित्री सृष्टि रची जाने से बाल-बाल बच गई। किन्तु केन्द्र मे बहुमत काग्रेस का ही है और केन्द्रीय सत्ता काग्रेस के हाथ मे ही रही। जहाँ काग्रेस को सब पार्टियों के मुकाबले में बहुमत नही प्राप्त है वहाँ भी अकेली पार्टी मे उसके सदस्य सबसे अधिक है। ईमानदारी के चुनाव मे पार्टियो की हार-जीत इतनी ही स्वाभाविक है

जितनी कि दिन के बाद रात का आना और रात के बाद दिन का होना। कांग्रेस की विफलता कांग्रेस सरकार द्वारा बनाए हुए नियमो की निष्पक्षता तथा चुनाव अधिकारियो की ईमानदारी की द्योतक है। चुनाव के दिनों मे कांग्रेस सरकार की ओर से पूर्णरूपेण वाणी की स्वतन्त्रता रही। कांग्रेस को लोगों ने जी भरके कोसा। इस कोसने में ऐसे लोगों ने भी भाग लिया जिनके निकट सम्बन्धी सरकार में उच्च पदाधिकारी थे। ऐसे लोग कांग्रेस के विरुद्ध चुनाव भी लडे यह कांग्रेस सरकार की तटस्थता का अच्छा प्रमाण है।

कांग्रेस की जीत पर मुझको प्रसन्नता है क्योकि उसकी बागडोर जिनके हाथ मे हैं उनके प्रति मेरा विश्वास है। कांग्रेस सरकार की अल्प-संख्यकों के प्रति उदारता ने उसकी साख विदेशों मे जमा रक्खी है। कांग्रेस ने कुछ दीर्घकालीन योजनाएँ बनाई है, उनको पूर्णता को पहुँचाने के लिए उसको अवसर दिया जाय। कांग्रेस शासन की विफलताएँ कुछ प्राकृतिक कारणों से भी है, जिनको दूसरी पार्टी भी सहज मे दूर नही कर सकती है। कांग्रेस ने फिर देश की बागडोर हाथ मे ली है। आशा है कि वह पिछली विफलताओं कों दूर करने के लिए कटिबद्ध हो जायगी और नव-निर्माण का सूत्रपात करेगी।

['दैनिक हिन्दुस्तान', १७ फरवरी, १९५२]

सांस्कृतिक

भारतीय संस्कृति

'संस्कृति' शब्द का सम्बन्ध सस्कार से है जिसका अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना। अङ्ग्रेजी शब्द 'कल्चर' मे वही धातु है जो 'एग्रीकल्चर' मे है। इसका भी अर्थ 'पैदा करना, सुधारना' है। सस्कार व्यक्ति के भी होते है और जाति के भी। जातीय सस्कारो को ही सस्कृति कहते है। संस्कृति एक समूहवाचक शब्द है। जलवायु के अनुकूल रहन-सहन की विधियाँ और विचार-परम्पराएँ जाति के लोगो मे दृढमूल हो जाने से जाति के सस्कार बन जाते है। इनको प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी प्रकृति के अनुकूल न्यूनाधिक मात्रा मे पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त करता है। ये सस्कार व्यक्ति के घरेलू जीवन तथा सामाजिक जीवन मे परिलक्षित होते है। मनुष्य अकेला रहकर भी इनसे छुटकारा नही पा सकता। ये सस्कार दूसरे देश मे निवास करने अथवा दूसरे देशवासियो के सम्पर्क मे आने से कुछ परिवर्तित भी हो सकते है और कभी-कभी दब भी जाते है, किन्तु अनुकूल वातावरण प्राप्त करने पर फिर उभर आते है।

सस्कृति का बाह्य पक्ष भी होता है और आन्तरिक भी। उसका बाह्य पक्ष आन्तरिक का प्रतिबिम्ब नही तो उससे सम्बन्धित अवश्य रहता है। हमारे बाह्य आचार हमारे विचारों और मनोवृत्तियो के परिचायक होते है। सस्कृति एक देश-विशेष की उपज होती है, उसका सम्बन्ध देश के भौतिक वातावरण और उसमे पालित, पोषित एव परिवर्द्धित विचारो से होता है।

भाषा सस्कृति का बाहरी अग सा है, फिर भी वह हमारी जातीय मनोवृत्ति की परिचायिका होती है। 'कुशल' शब्द को ही लीजिए, वह हमारी उस संस्कृति की ओर सकेत करता है जिसमे कि पूजा-विधान की सम्पन्नता के लिए कुश लाना एक दैनिक कार्य बना हुआ था। जो कुश ला सकता था वह तन्दुरुस्त भी और होशियार भी समझा जाता था। 'प्रवीण' का सम्बन्ध वीणा से है—प्रकर्षः वीणायां प्रवीणः। हमारी भाषा मे 'गो' से सम्बन्धित शब्दो का बाहुल्य है; जैसे गौधूलि-बेला (जिसमे विवाह जैसे शुभ कार्य सम्पन्न होते है), गोष्ठी, गवेषणा (गाय की चाह या खोज के अर्थ-विस्तार द्वारा गवेषणा का अर्थ 'खोज' हो गया), गवाक्ष (गौ की आँख—खिडकियो का आकार शायद पहले गोल होता होगा), गुरसी (अँगीठी गोरसी से बनी है जिसमे गौ का दूध औटाया जाता था), गोपुच्छ (नाटक को गौ की पूँछ के

समान वताया गया है—अन्त में आकर मूल कथा ही रह जाती है और उसका फैलाव वन्द हो जाता है), गोमुखी (जिसके भीतर माला फेरी जाती है और जिससे जल गिरता है उसे भी कहते है), गोपन (छिपाना—यह शब्द भी गौ से सम्वन्ध रखता है, जो वस्तु पाली जाती है, सुरक्षित रक्खी जाती है वह छिपाकर भी रक्खी जाती है) आदि। यह वाहुल्य हमारे समाज मे गौ की प्रधानता का द्योतक है।

भारत गरम देश है। यहाँ हृदय को शीतल करना मुहावरा है, किन्तु आंग्ल देश ठण्डा है, वहाँ की परिस्थिति के अनुकूल warm reception और cold treatment आदि मुहावरे है। Breaking the ice मौन भङ्ग करने के अर्थ मे आता है। Ice ठडेपन का प्रतीक है और मौन ठडेपन का ही द्योतक है। अंग्रेजी का प्रयोग 'killing two birds with one stone' वहाँ की हिंसात्मक प्रवृत्ति का परिचायक है। हमारे यहाँ इसका अनुवाद हुआ है 'एक ढेले मे दो पछी', किन्तु उसमे वह मधुरता नही जो 'एक पथ दो काज' मे है। उसके कहते ही हमको "गोरस वेचन हरि मिलन, एक पथ दो काज" की वात याद आ जाती है।

हमारी रहन-सहन, पोशाक आदि सभी वातें जातीय परिस्थिति, देश के वातावरण और देश की भावनाओ से सम्वन्धित है। जमीन पर वैठना, हाथ से खाना, नहाकर खाना, लम्वे-ढीले कपड़े पहनना, वेसिले कपड़ो को अधिक शुद्ध मानना, ये सव चीजे देश की आवश्यकताओ और आदर्शो के अनुकूल ह। गरम देश मे पृथ्वी का स्पर्श बुरा नही लगता। इसीलिए यहाँ जूतो का इतना मान नही है जितना कि विलायत मे। यहाँ हाथ से खाने का चलन इसलिए हुआ कि यहाँ हर समय हाथ धोये जा सकते है। अन्न को भी देवता माना जाता है, उससे सीधा सम्पर्क अधिक सुखद और स्वाभाविक समझा जाता है। यहाँ नहाने के लिए जल की कमी नही और नहाने की आवश्यकता भी अधिक होती है, इसलिए नहाना धर्म का अङ्ग हो गया है।

इस देश मे शरीर को अधिक महत्त्व नही दिया जाता है। इसलिए लम्बे कपड़ो को, जो शरीर को उभार मे न लावें और उसे पूर्णतया ढक लें, अधिक महत्त्व दिया जाता है। वेसिले कपडे जैसे धोती आदि नित्य सहज मे धोये जा सकते है। उनमे सीवन का भी किसी प्रकार का मैल नही रह सकता है, इसीलिए वे अधिक पवित्र माने जाते है। हमारे यहाँ नंगे सर की अपेक्षा सर ढकना अधिक सास्कृतिक समझा जाता है। ऐसा सभी पूर्वी देशों

मे है। यहूदियो के प्रार्थना-भवनो मे भी नगे सर नही बैठते। बाल भी शरीर के अंग होने के कारण ढके जाने की अपेक्षा रखते है।

इसी प्रकार देश के वातावरण और रुचि के अनुकूल ही मागल्य वस्तुओ का विधान किया जाता है। फूलो मे हमारे यहाँ कमल को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है। इसका सम्बन्ध जल और सूर्य दोनो से है। वह जल मे रहता है और सूर्य को देखकर प्रसन्न होता है। जल और सूर्य देश की महतो आवश्यकताओ मे से है, इसका दोनो से सम्बन्ध है। कमल ही सब प्रकार के शारीरिक सौन्दर्य का उपमान बनता है--चरण कमल, नेत्र-कमल, मुख-कमल आदि कमल की महत्ता के द्योतक है। "नव कज लोचन कज मुख कर कज पद कजारुणम्" इस छन्द मे सभी अग कमल बन गए है।

आम्र (रसाल), कदली, दूर्वादल, नारियल, श्रीफल (शरीफा) आदि को मागल्य कार्यो मे प्रमुख स्थान दिया जाता है। आम यहाँ का विशेष फल है। इसमे रस भरा रहता है और इसका बौर वसन्त का अग्रदूत है। हमारे यहाँ अश्वत्थ (पोपल) को भी विशेष महत्ता दी गई है। श्रीमद्भगवद्गीता मे भगवान् को विभूतियो मे अश्वत्थ को भी माना गया है—'अश्वत्थ. सर्व-वृक्षाणा'। भारतीय सस्कृति मे जिन-जिन वस्तुओ को महत्ता दी गई है वे सब श्रीमद्भगवद्गीता मे भगवान् की विभूतियो के रूप मे आ गई है। भगवान् बुद्ध को भी अश्वत्थ वृक्ष के ही नीचे बुद्धत्व प्राप्त हुआ था। स्थावर वस्तुओ मे हिमालय को (स्थावराणाम् हिमालयः), सरिताओ मे गङ्गा (स्रोत-सामस्मि जाह्नवी) को, पक्षियो मे गरुड (वैनेतेयश्च पक्षिणाम्) को तथा ऋतुओ मे बसन्त ऋतु (ऋतूना कुसुमाकरः) को महत्ता दी गई है। स्त्रीलिग चीजो मे कीर्ति, वाणी, स्मृति, बुद्धि और धृति (धैर्य) को महत्ता दी गई है। यह भी हमारी जातीय मनोवृत्ति का परिचायक है।

यह तो रहे सस्कृति के बाह्य अग। सस्कृति के आन्तरिक अगो पर भारत मे विशेष बल दिया गया है। धर्मग्रन्थों मे अच्छे मनुष्यो के जो लक्षण बतलाए गए है, मनुस्मृति मे जो धृति, क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी न करना), शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध धर्म के दश लक्षण बतलाए गए है वे सब भारतीयो की मानसिक और आध्यात्मिक सस्कृति के अङ्ग है। श्रीमद्भगवद्गीता मे दैवी सम्पदावालो के लक्षण दिए गए है जिनमे 'अभय' को सबसे पहला स्थान दिया गया है। स्थितप्रज्ञ के लक्षण (दूसरा अध्याय), सात्विक चीजो के लक्षण (सत्रहवाँ अध्याय) आदि सब भारतीय सस्कृति के अनुकूल सभ्य और शिष्ट पुरुष के लक्षण है। इसलिए सभी महाकाव्य ऐसे

लक्षणों से भरे पडे है। 'रघुवंश' में रघुकुल के राजाओं के जो गुण वतलाए गए हे, वे न केवल भारत के सास्कृतिक आदर्शो के परिचायक है, वल्कि उनसे अतीत का भव्य चित्र हमारे सम्मुख आ जाता है। देखिए—

"दूसरो को दान देने के लिए ही जो सम्पन्न वनते थे (उनका धन दानाय था), सत्य के लिए ही मितभापी वने हुए थे (मिथ्याभिमान के कारण वे कम वातचीत नही करते थे), जो यश के लिए विजय प्राप्त करते थे (धन-राज्य छीनने के लिए नही) [यश को अपने यहाँ अधिक महत्त्व दिया गया है। हमारे पूर्वज यश के लिए ससार की समस्त सम्पदा और वैभव त्यागने को सदैव तत्पर रहते थे। अर्जुन से भी श्रीकृष्ण ने अन्तिम अपील यही की थी—'यशोलभस्व'], सन्तान के लिए (कामोपभोग के लिए नही, वरन् पितृ-ऋण चुकाने और समाज को अच्छे नागरिक देने के अर्थ) जो गृहस्थ वनते थे, वाल्यावस्था मे जो विद्याध्ययन करते थे, यौवन मे विपय-भोग करने वाले, वृद्धावस्था मे मुनिवृत्ति को धारण करने वाले और योग द्वारा शरीर को त्यागने वाले (आजकल तो रोगेणान्ते तनुत्यजाम की वात हो गई है) ऐसे रघुवशियो के कुल का मैं (कालिदास) वर्णन करता हूँ यद्यपि मेरे पास वाणी का वैभव अधिक नही है।"

इससे पता चलता है कि प्राचीन भारत मे त्याग, सत्य, यश, आश्रम-विभाग और सामाजिक कल्याण की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। सक्षेप मे भारतीय सस्कृति के मुख्य-मुख्य अग इस प्रकार वतलाए जा सकते है :—

(१) *आध्यात्मिकता*—इसके अन्तर्गत नश्वर शरीर का तिरस्कार, परलोक, सत्य, अहिसा, तप आदि आध्यात्मिक मूल्यों को अधिक महत्त्व देना, आवागमन की भावना, ईश्वरीय न्याय मे विश्वास आदि वाते हे। हमारे यहाँ की सस्कृति तपोवन-सस्कृति रही है जिसमे विस्तार ही विस्तार था—'प्रथम साम रव तव तपोवने प्रथम प्रभात उदय तव गगने।' विस्तार के वातावरण मे आत्मा का सकुचित रूप नही रह सकता था इसी के अनुकूल आत्मा का सर्वव्यापक विस्तार माना गया है। इसीलिए हमारे यहाँ सर्वभूत हित पर अधिक महत्त्व दिया है—'आत्मवत् सर्वभूतेपु यः पश्यति स पश्यति।'

कीरी और कुञ्जर मे एक ही आत्मा का विस्तार देखा जाता है। इसी से गाधीजी की सर्वोदय की भावना को वल मिला। हमारे यहाँ के मनीपी 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः' का पाठ पढते थे।

नश्वर शरीर के तिरस्कार की भावना हमारे यहाँ के लोगों को वड़े-

बडे बलिदानों के लिए तैयार कर सकी। शिवि, दधीच, मोरध्वज इसके ज्वलन्त उदाहरण है। महाराजा दिलीप ने गुरु की प्रसन्नता के लिए नन्दिनी नाम की गौ को चराने का व्रत धारण किया था। उसकी सिह से रक्षा करने के लिए वे अपने प्राणो का भी उत्सर्ग करने को तैयार हो जाते है। वे सिह से कहते है कि यदि तुम मुझ पर दया ही करना चाहते हो तो मेरे यश-शरीर पर दया करो, पचभूतो से बने हुए नाशवान शरीर के पिण्डो पर मुझ जैसे लोगो की आस्था नही होती।

हमारे यहाँ का मार्ग साधना का मार्ग रहा है और तप, त्याग और सयम को महत्ता दी गई है। क्या बौद्ध, क्या जैन और क्या वैष्णव, सभी लोग इन गुणो की सराहना करते है।

हमारे यहाँ की आध्यात्मिकता मन और बुद्धि से परे जाती है। वह आत्मा का साक्षात् अनुभव करना चाहती है। यही भारतीय और पाश्चात्य दर्शनो का अन्तर है। हमारे दर्शन का अर्थ आत्मा का दर्शन ही है, पाश्चात्य देशो मे वह बुद्धि-विलास के रूप मे रहा है।

(२) *समन्वय बुद्धि*—आत्मा की एकता के आधार पर हमारे यहाँ अनेकता मे एकता देखी गई है।

इसी से मिलती-जुलती समन्वय-भावना है। हमारे विचारको ने सभी वस्तुओ मे सत्य के दर्शन किए है। उनका धर्म अविरोधी धर्म रहा है।

इसीलिए हमारे यहाँ धर्म-परिवर्तन को विशेष महत्त्व नही दिया गया है। फिर भी सस्कृतियो का आदान-प्रदान हुआ है। तुलसीदासजी जैसे महात्मा ने, जो भारतीय सस्कृति के प्रतिनिधि कहे जा सकते है, समन्वय बुद्धि से ही काम लिया था। उन्होने शैव और वैष्णवो का, ज्ञान और भक्ति का तथा अद्वैत और विशिष्टाद्वैत का समन्वय किया था। आधुनिक कवियो मे प्रसादजी ने अपनी 'कामायनी' मे ज्ञान, इच्छा और क्रिया का समन्वय किया है। मानव-कल्याण मे ज्ञान, इच्छा, क्रिया का पार्थक्य ही बाधक होता है।

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यो पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सके, यह विडम्बना है जीवन की ॥

(३) *वर्णाश्रम विभाग*—हमारी सस्कृति मे कार्य-विभाजन को वडा महत्त्व दिया गया है। समाज को भी चार भागो मे वॉटा है और मानव-जीवन को भी। सामाजिक विभाजन बढते-बढते सकुचित और अपरिवर्तनीय

बन गया। अपरिवर्तनीय बनने मे भी इतनी हानि न थी यदि सबका महत्त्व सिद्धान्त और व्यवहार दोनो मे एकसा मान लिया गया होता। कुछ लोगों ने श्रेष्ठता का एकाधिकार कर लिया और 'पण्डित· समदर्शिन·' की बात भूल गए। हमारे सभी प्रचारको और सुधारको ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई और उन सब मे जोरदार आवाज रही भगवान गौतम बुद्ध, सन्त कबीर और महात्मा गाधी की। पुरुष सूक्त ने तो चारों वर्णों को एक ही विराट् शरीर का अग माना था—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।' शूद्र भगवान के चरणो से निकले। इसी आधार पर कविवर मैथिलीशरणजी गुप्त ने उन्हे सुरसरि का सहोदर कहा है। एक ही शरीर के विभिन्न अङ्गो में कोई ऊंचा-नीचा नही होता। सामाजिक सगठन का हमारे यहाँ बहुत ऊँचा आदर्श रक्खा गया था। वैदिक ऋषियो की तो यही भावना थी, हम उसको भुला बैठे।

(४) *अहिसा, करुणा, मैत्री और विनय*—इन चार गुणों को इसलिए ही रखा गया है कि इनके मूल मे अहिसा की भावना है और करुणा, मैत्री तथा विनय अहिसा व्रत के पालन में सहायक होते है। हिसा केवल वध करने मे ही नही होती है वरन् किसी का उचित भाग ले लेने और दूसरे का जी दुखाने मे भी। इसीलिए हमारे यहाँ 'सत्य ब्रूयात्' के साथ 'प्रिय ब्रूयात्' का पाठ पढाया गया है। करुणा प्रायः छोटों के प्रति होती है, मैत्री बराबर वालो के प्रति और विनय बड़ो के प्रति, किन्तु हमको सभी के प्रति शिष्टता का व्यवहार करना चाहिए। विनय शील का एक अग है, उसको बड़ा आवश्यक माना गया है। भगवान् कृष्ण ने ब्राह्मण के विशेषणों मे विद्या के साथ विनय भी लगाया—'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे'। विनय भारतीय सस्कृति की एक विशेषता है। असास्कृतिक लोग ही उद्धत होते है।

(५) *प्रकृति-प्रेम*—भारतवर्ष पर प्रकृति की विशेष कृपा रही है। यहाँ सभी ऋतुएँ अपने समय पर आती हे और पर्याप्त काल तक ठहरती है। ऋतुएँ अपने अनुकूल फल-फूलो का सृजन करती हे। धूप और वर्षा के समान अधिकार के कारण यह भूमि शस्यश्यामला हो जाती है। यहाँ का नगाधिराज हिमालय कवियों को सदा से प्रेरणा देता आ रहा है और यहा की नदियाँ मोक्षदायिनी समझी जाती रही हे। यहाँ कृत्रिम धूप और रोशनी की आवश्यकता नही पड़ती। भारतीय मनीषी जङ्गल मे रहना पसन्द करते थे। प्रकृति- प्रेम के ही कारण यहाँ के लोग पत्तो मे खाना पसन्द करते है। वृक्षो मे पानी देना एक धार्मिक कार्य समझते हे। सूर्य और चन्द्र दर्शन नित्य और

नैमित्तिक कार्यो मे शुभ माना जाता है। यहाँ के पशु-पक्षी, लता-गुल्म और वृक्ष तपोवनो के जीवन का एक अग वन गए थे, तभी तो शकुन्तला के पति-गृह जाते समय उसके जाने की उन सबो से आज्ञा चाहते है—

पीछे पीवत नीर जो पहले तुमको प्याय।
फूल-पात तोरति नही गहने हू के चाय॥
जव तुअ फूलन के दिवस आवत है सुखदान।
फूली अङ्ग समाति नहि उत्सव करत महान॥
सो यह जाति शकुन्तला आज पिया के गेह।
आज्ञा देहु पयान की तुम सब सहित सनेह॥

हमारी सस्कृति इतने मे ही सकुचित नही है। पारिवारिकता पर हमारी सस्कृति मे विशेष बल दिया गया है। भारतीय सस्कृति मे शोक की अपेक्षा आनन्द को अधिक महत्त्व दिया गया है। इसलिए हमारे यहाँ शोकान्त नाटको का निषेध है। भारत मे आतिथ्य को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। अतिथि को भी देवता माना गया है—'अतिथि देवोभव'।

हमारी सस्कृति के मूल अगो पर प्रकाश डाला जा चुका है। भारत मे विभिन्न जातियों के पारस्परिक सम्पर्क मे आने से सस्कृति की समस्या कुछ जटिल हो गई। पुराने जमाने मे द्रविड और आर्य सस्कृति का समन्वय बहुत उत्तम रीति से हो गया था। इस समय मुस्लिम और अँग्रेजी सस्कृतियो का और मेल हुआ है। हम इन सस्कृतियो से अछूते नही रह सकते है। इन सस्कृतियो मे से हम कितना ले और कितना छोडे, यह हमारे सामने वडी समस्या है। अपनी भारतीय सस्कृति को तिलाञ्जलि देकर इनको अपनाना आत्महत्या होगी। भारतीय सस्कृति की समन्वयशीलता यहाँ भी अपेक्षित है किन्तु समन्वय मे अपना न खो बैठना चाहिए। दूसरी सस्कृतियो के जो अग हमारी सस्कृति मे अविरोध रूप से अपनाये जा सके उनके द्वारा अपनी सस्कृति को सम्पन्न बनाना आपत्तिजनक नही। अपनी सस्कृति चाहे अच्छी हो या बुरी, चाहे दूसरो की सस्कृति से मेल खाती हो या न खाती हो, उससे लज्जित होने की कोई बात नही।

दूसरो की सस्कृतियो मे सब वाते बुरी ही नही है। हमारी सस्कृति में धार्मिक कृत्यो मे एकान्त-साधना पर अधिक बल दिया गया है, यद्यपि सामूहिक प्रार्थना का अभाव नही है। मुसलमानी और अँग्रेजी सभ्यता मे सामूहिक प्रार्थना को अधिक आश्रय दिया गया, यद्यपि एकान्त-साधना का वहाँ भी अभाव नही। हमारे कीर्तन आदि तथा महात्मा गाधी द्वारा परिचालित

प्रार्थना-सभाएं सब धर्म मे एकत्र को सामाजिक भावना को उत्पन्न करती आई हैं। हमारे यहाँ सामाजिकता की अपेक्षा पारिवारिकता को महत्त्व दिया गया हैं। पारिवारिकता को खोकर सामाजिकता को ग्रहण करना तो मूर्खता होगी किन्तु पारिवारिकता के साथ-साथ सामाजिकता वढाना श्रेयस्कर होगा। भापा और पोशाक मे अपनत्व खोना जातीय व्यक्तित्व को तिलाञ्जलि देना होगा। हमे अपनी सम्मिलित परिवार की प्रथा को इतना न वढा देना चाहिए कि व्यक्ति का व्यक्तित्व ही न रह जाय और न व्यक्तित्व को इतना महत्त्व देना चाहिए कि गुरुजनो का आदर-भाव भी न रहे और पारिवारिक एकता पर कुठाराघात हो। कपडे और जूतो की सभ्यता और कम से कम कपड़ा पहनने और नंगे पैर रहने की सभ्यता मे भी समन्वय की आवश्यकता है। अंग्रेजी सभ्यता मे जूतो का विशेष महत्त्व है किन्तु उसे अपने यहाँ के चोका और पूजागृहो की सीमा पर आक्रमण न करना चाहिए। अंग्रेजी सभ्यता चीनी और कॉच के वर्तनो की सभ्यता है। हमारी सभ्यता मिट्टी और पीतल के वर्तनो की है। हमारी सभ्यता स्वास्थ्य विज्ञान के नियमो के अधिक अनुकूल है। यदि हम कुल्हड़ो के कूड़े का अच्छा वन्दोवस्त कर सके तो उससे अच्छी कोई चीज नहीं हैं। आलस्य को वैज्ञानिकता पर विजय न पाना चाहिए। अंग्रेजी सस्कृति से भी सफाई और समय की पावन्दी की वहुत सी वाते सीखी जा सकती है, किन्तु अपनी सस्कृति के मूल अङ्गो पर ध्यान रखते हुए समन्वय-वुद्धि से काम लेना चाहिए। समन्वय द्वारा ही सस्कृति क्रमशः उन्नति करती रही है और आज भी हमे उसे समन्वयशील वनाना है।

[*'मुंशी अभिनन्दन ग्रन्थ'*]

ब्रज की जीवन-ज्योति—गौ

भारतीय समाज मे गौ का विशेष महत्त्व है। गौ से धर्म और अर्थ दोनो की साधना होती है। गौ स्वय पूज्य है और वह यज्ञादि के लिए घृत और प्रवहन, खेती के लिए बैल, तथा भोजन के लिए घी, दूध, खोग्रा और मलाई-मक्खन देकर साधन-रूप से भी मान्य है। इसी कारण हमारी भाषा मे अनेक शब्द गौ से सम्बन्धित है। गोष्ठी, गवेषणा (जिसका शाब्दिक अर्थ गाय की चाह या खोज है, फिर अर्थ-विस्तार से सब प्रकार की खोज के लिए प्रयुक्त होने लगा), गोपन (जिस चीज की रक्षा की जाय वह छिपाकर रखी जाती है, इससे गौ की रक्षा का अर्थ छिपाना हो गया), गवाक्ष (खिडकी जो शायद गौ की आँख की भाँति गोलाकार होती थी), गोमुखी, गोधूलि (जिस वेला मे विवाह जैसे शुभ कार्य होते है), गुरसी (बुन्देलखडी मे अगीठी को कहते है, उसमे गोरस औटाये जाने के कारण उसका नाम गुरसी पडा) आदि शब्द इसके प्रमाण है। गौ एक भारतीय को जीवन भर और उसके मरण के पश्चात् भी तारती है। गौओ से ही मनुष्य की सम्पत्ति आँकी जाती थी। भगवान् कृष्ण के बाल-सखा खेल का दाँव माँगते हुए समता भाव से कहते है—'अति अधिकार जनावत यातै जातै अधिक तुम्हारे गैयाँ।' मैया यशोदा भी कृष्ण को समझाते हुए गोधन की ही सौगन्ध खाती है—'गोधन की सौ हौ माता तू पूत।' अँग्रेजी शब्द पिक्यूनरी पशु के ही सगोत्री शब्द पिकुस से बना है।

दधि और माखन की चोरी—ब्रज की सस्कृति और वहाँ का जीवन गौ-प्रधान था। श्रीमद्भागवत मे उद्धवजी की ब्रज-यात्रा के अवसर पर उन्होने हाल की ब्याई हुई गायो को दूध के भार से झुकी हुई भी अपने बच्चो की तरफ दौडती देखा था और सफेद रग के बछडे इधर-उधर कूदते हुए बडे सुहावने लगते थे। गायो के दुहने के घर्र-मर्र रव और बाँसुरियो की मधुर ध्वनि से ब्रज शब्दायमान हो रहा था।

धावन्तीभिश्च वास्राभिरुधोभारैः स्ववत्सकान्
इतस्ततो विलङ्घद्भिर्गोवत्सैर्मण्डित मितैं।
गोदोहशब्दाभिरव वेणूना निस्वनेन च॥

—दशम स्कन्ध ४६। ६, १०

यह तो सायंकाल का दृश्य था। प्रातःकाल के चार बजे से दधि-मन्थन प्रारम्भ हो गया था। ब्रज-युवतियों के मणिमय आभूषण दीपक के प्रकाश में और भी चमक उठे थे। मथानी की रस्सी के घर्षण से भुजाओं के कंकण शब्दायमान हो रहे थे और उनके अंग विशेष तथा हार और कुण्डल हिल रहे थे तथा उनके कपोलों पर थोडी लाली आ गई थी। कमलनयनी ब्रजाङ्गनाएँ श्रीकृष्ण का यश-गान कर रही थी। उसी ध्वनि में दधि-मन्थन की ध्वनि मिल कर आकाश-मण्डल तक पहुँच रही थी और चारो दिशाओं का अमगल-नाश कर रही थी।

दधि और माखन के लोभ ही के कारण श्रीकृष्ण उलूखल से बाँधे गए और उनका नाम दामोदर (अर्थात् दाम या रस्सी जिसके उदर मे है) पडा। दधि मथती हुई ग्वालिनो के सहज सौन्दर्य का वर्णन सूरदासजी ने जी खोलकर किया है। यहाँ सौन्दर्य गुलाब के झामे से खरोच पड़ने वाली सुकुमारता का नही है, वरन् कार्य मे सलग्नता के स्वस्थ सौन्दर्य का है। नीचे के पदो मे सूर द्वारा अकित शब्द-चित्रों में श्रीमद्भागवत के उक्त भाव की क्षीण छाया देखी जा सकती है, किन्तु सूर ने जो गति और शब्द के चित्र दिए है वे अनुपम है—

दधि लै मथति ग्वालि गरबीली।
रुनक-झुनक कर ककन बाजै, बाँह डुलावत ढीली।
भरी गुमान बिलोवति ठाटी, अपनें रग रँगीली।
छवि की उपमा कहि न परति है, या छवि की जु छबीली।
अति विचित्र गति कहि न जाइ अब, पहिरे सारी नीली।
सूरदास प्रभु माखन माँगत, नाहिं न देति हठीली॥

—सूरसागर—दशम स्कन्ध॥ २६६॥

एक चित्र और देखिए—

देखी हरि मथति ग्वालि दधि ठाडी।

× × × ×

दिन थोरी, भोरी, अति गोरी, देखत ही जु स्याम भए चाढी।
करषति है दुहूँ करनि मथानी, सोभा रासि भुजा सुभ काढी।

—सूरसागर—दशम स्कन्ध॥ ३००॥

सूरदास का वर्णन जितना विशद् और सश्लिष्ट है, उतना श्रीमद्-भागवत का भी नही। सूर के वर्णन मे उनके प्रभु सामने खडे है। सूर ने

क्योंकि चितेरा उस गति और व्यापार की सरलता को अपनी कला में कठिनता से ही अङ्कित कर सकता है। गुमान भरी और गरवीली तो आकृति से व्यजित हो सकती है, किन्तु कङ्कणों की रुनक-झुनक चितेरे की कला के वाहर की वस्तु है।

भगवान् कृष्ण को अपने कृत्य की सफाई गोपियों को ही नही देनी पड़ी थी, माता यशोदा के सामने भी उन्होने वडी सरस सफाई दी है—

मैया मै नहि माखन खायौ।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि, मेरै मुख लपटायौ।
देखि तुही सीके पर भाजन, ऊँचै धरि लटकायौ।
हो जु कहत नान्हे कर अपनै, मैं कैसैं करि पायौ।
मुख दधि पौंछि, बुद्धि इक कीन्ही, दोना पीठ दुरायौ।
डारि सांटि मुसकाइ जसोदा, स्यामहि कठ लगायौ।

—सूरसागर—दशम स्कन्ध ॥३३४॥

श्रीकृष्ण के इसी वाल-चापल्य ने नन्द-जसोदा के घर को स्वर्ग से भी अधिक सुरम्य वना रखा था। तभी तो सूरदासजी को कहना पडा था—'जो सुख सूर अमर-मुनि दुरलभ सो नंद-भामिनि पावै।' श्रीकृष्ण की माखन-चोरी व्रज-जीवन की दैनिक चर्चा वन गई थी। कभी ग्वालिने आकर यशोदा मैया को उलाहना देती है—'जसुदा कहँ लौं कीजै कानि। दिन प्रति कैसे सही परति है, दूध दही की हानि'—तो कभी यशोदा मैया अपने लाड़ले लाल की ओर लेकर गोपी को डाँटती हैं—

मेरो गोपाल तनक सो, कहा करि जानै दधि की चोरी।
हाथ नचावत आवत ग्वारिनि, जीभ करै किन थोरी।
कब सीके चढि माखन खायौ, कब दधि-मटुकी फोरी।
अँगुरी करि कबहुं नहि चाखत, घर ही भरी कमोरी।

—सूरसागर—दशम स्कन्ध ॥२९३॥

उधर वह वालकृष्ण को भी समझाती है कि पराए घर का माखन खाना अच्छा नहीं है। वह अपने घर की सम्पन्नता दिखाती हुई वालक की गर्व-भावना भी जागृत करती है—

माखन खात पराए घर को।
नित प्रति सहस मथानी मथिए, मेघ सब्द दधि माट घमरको।

कितने अहिर जियत मेरै घर, दधि मथि लै बेंचत महि मरकी।
नव लख धेनु दुहत हैं नित प्रति, बडौ नाम है नन्द महर कौ।

—सूरसागर–दशम स्कन्ध ॥३३३॥

जब यह गर्व-भावना का अस्त्र निष्फल जाता है, उलाहने आना बन्द नही होते और वालक की नटखटी को चारो ओर से शिकायत आती है और स्वय यशोदा को दोष दिया जाता है—'नन्द घरनि सुत भलो पढायौ'—तव यशोदा बालकृष्ण को ताडना देने के लिए उलूखल से बाँध देती है। तब वे ही गोपियाँ जो वालकृष्ण के विरुद्ध उलाहना देने आती हे, कृष्ण को हिमायत लेकर आती है—'जसुमति एतौ कहा रिसानी', 'देखौ माई कान्ह हिलकियनि रोवै।' यशोदाजी उनको फटकारती है—

जाहु चली अपने-अपने घर।
तुम ही सबनि मिलि ढीट करायौ, अब आईं छोरन वर।
मोहिं अपने बाबा की सौंहैं, कान्हहिं अब न पत्याउँ।
भवन जाहु अपने-अपने सब, लागति हौं मै पाउँ।

—सूरसागर–दशम स्कन्ध ॥३४५॥

गो-चरण के उत्सुक कृष्ण—बालकृष्ण दधि-माखन लुटाना ही नही जानते थे, वरन् उसके उत्पादन मे भी अपना उचित भाग लेना चाहते थे। वह गाय चराने और दूध दुहने के लिए भी उतने ही उत्सुक थे जितने कि माखन खाने के। वे ब्रज-जीवन मे पूरा भाग लेना चाहते थे। पहले वह गाय दुहना सीखना चाहते है। नीचे के पद मे नये कार्यो के वाल-औत्सुक्य का बडा सजीव वर्णन है। बालक को सहसा उसके मन की नही करने दी जाती है—

मैं दुहिहौं मोहि दुहन सिखावहु।
कैसे गहत दोहनी घुटवनि, कैसे बछरा थन लै लावहु।
कैसे लै नोई पग बाँधत, कैसे लै गैया अटकावहु।
कैसे धार दूध की बाजति, सोइ सोइ विधि तुम मोहिं बतावहु।
निपट भई अब साँझ कन्हैया, गैयनि पै कहुँ चोट लगावहु।
सूर स्याम सौ कहत ग्वाल सब, धेनु दुहन प्रातहि उठि आवहु।

—सूरसागर–दशम स्कन्ध ॥४०१॥

इस पद के पढने से प्रतीत होता है कि बालकृष्ण गाय दुहने की सभी प्रक्रिया से निजी निरीक्षण द्वारा सैद्धान्तिक परिचय प्राप्त कर चुके थे। अब वह उसका व्यावहारिक ज्ञान चाहते थे। उनके सखा-सगी भी अपने उत्तर-

दायित्व को समझते थे। शाम के समय चोट-फेंट लग जाने के भय से गो-दोहन सिखाने से उन्होंने इन्कार कर दिया और उनको सुबह बुलाया। 'सुरक्षा सर्वप्रथम' की बात है।

सुबह यशोदा मैया बालकृष्ण को जगाती हैं और उनको याद दिलाती है कि सुबह गो-दोहन सीखने को कहा था। बालक कृष्ण तुरन्त उठ बैठते हैं—

जागहु जागहु नन्दकुमार।
रवि बहु चढ्यौ, रैन सब निघटी, उचटे सकल किवार।
साँझ दुहन तुम कह्यौ गाइकौं, तातें होति अबार।
सूरदास प्रभु उठे तुरत ही, लीला अगम अपार।

—सूरसागर—दशम स्कन्ध ॥४०८॥

सूरदासजी अपने प्रभु के गो-दोहन मे बाल-प्रयास का वर्णन करना नही भूले। उनके असफल प्रयास को देखकर नन्द बाबा हँस देते है। कृष्ण के बाल कौतूहल देखने को व्रज-नारियाँ भी जुड आईं। बाल-जीवन की यही अपूर्णता सूर की वाणी मे एक मनोहर यथार्थता ले आती है। उस समय गो-दोहन का विद्यारम्भ की भाँति उत्सव भी मनाया गया। ब्राह्मण बुलाए गए और वेदोच्चारण भी हुआ। कृष्ण नन्द बाबा की आज्ञा लेकर माता से दोहनी माँगने जाते है—

तनक कनक की दोहनी, दै दै री मैया।
तात दुहन सीखन कह्यौ, मोहिं धौरी गैया।
अटपट आसन बैठि कै, गो-थन कर लीन्हौ।
धार अनतही देखि कै, व्रजपति हँसि दीन्हौ।
घर-घर तैं आईं सबै, देखन व्रज-नारी।
विप्र बोलि आसन दियौ, कह्यौ वेद उचारी।
सूर स्याम सुरभी दुही, संतनि हितकारी॥

—सूरसागर—दशम स्कन्ध ॥४०९॥

गो-दोहन तो घर की बात थी, गो-चारण के लिए घर से बाहर जाना पड़ता था। एक बार माता मना कर चुकी थी। वन जाने की कठिनाइयाँ भी बता चुकी थी—

प्रात जात गैया लै चारन, घर आवत हैं साँझ।
तुम्हरौ कमल बदन कुम्हिलैहै, रेंगहि घामहि माँझ।

—सूरसागर—दशम स्कन्ध ॥४११॥

सूरदास के प्रभु कब मानने वाले थे ! बाल-हठ प्रख्यात है—

सूरदास प्रभु कह्यौ न मानत पर्‍यौ आपनी टेक ।

—सूरसागर–दशम स्कन्ध ॥४११॥

इसी टेक और हठ के कारण वह पुनः आग्रह करते है । नन्द बाबा से कहने मे उन्हे सकोच होता था । माता का ही अधिक भरोसा था । वह माता से ही नन्द बाबा की अनुमति प्राप्त करने को कहते है । अपने बडे होने और न डरने की भी बात कहते है । माता की आशकाओ का अनुमान कर वह पहले से ही उनका निराकरण करते है । वह अकेले नही जायेंगे, पहले नौकरों (रैंता पैंता) और सखाओ (मना-मनसुखा) का नाम लेते है और अन्त मे घर के विश्वासपात्र बडे भाई बलदाऊजी का नाम लेते है । माता के स्नेह को भी जागृत करते है और कहते है कि वन मे जाने से मुझे सुख होगा । माँ को बालक के भोजन की फिक्र रहती है । उसका भी प्रबन्ध कर देने को कहते है, और अन्तिम बात का जो वह बडी दृढता से साख देकर विश्वास दिलाते है, वह यह कि जमुना जल मे नही नहाऊँगा । माता को इसी का डर रहता है कि वन जाकर कही जान-जोखो वाले औठपाव न कर बैठे । नीचे का पद मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है—

मैया हौं गाइ चरावन जैहौं ।
तू कहि महर नन्द बाबा सौं, बडो भयो न डरैहौं ।
रैंता, पैंता, मना, मनसुखा, हलधर सगहि रैहौं ।
बसीबट तर ग्वालनि के सग, खेलत अति सुख पैहौं ।
ओदन भोजन दै दधि काँवरि, भूख लगै तै खैहौं ।
सूरदास है साखि जमुन-जल, सौंह देहु जु नहैहौं ॥

—सूरसागर–दशम स्कन्ध ॥४१२॥

यह आज्ञा की बात रात मे कही गई मालूम पडती है । यशोदा की शायद 'मौन अर्द्धसम्मति लक्षणम्' की अनुमति प्राप्त कर ली थी । प्रातःकाल ही ग्वालो की टेर-पुकार सुनते ही वह घर से बाहर दौड गए । पीछे से यशोदा मैया दौडती जाती थी । आगे बालकृष्ण ग्वालो के पीछे दौडते जाते थे । बलदाऊ ने कन्हाई को आते देख लिया । उन्होने ग्वाल-बालो को रोक लिया । इतने मे यशोदा मैया भी आ गई और कृष्ण को आगे जाने से रोकते हुए उनके हाथ पकड लिए । फिर बलरामजी की सिफारिश से ही कन्हाई को गाय चराने की आज्ञा मिली ।

हलधर कह्यो जान दे मो सग, ग्रावहि ग्राज सवारे।
सूरदास वल सों कहै जसुमति, देखे रहियो प्यारे॥

—सूरमागर-दशम स्कन्ध ॥४१३॥

माता की चिन्ता दर्शनीय है। इसमे वालक के ग्रौत्सुक्य ग्रौर माता को चिन्ता का वडा सुन्दर सघर्प है। वलदाऊ वीच मे पड़कर सहायक होते है। कृष्ण भी डरे हुए हे, भाई का सग नही छोडते है कि कही दूसरे रोज माता वन जाना रोक न दे। इसमे वालकृष्ण का विनयपूर्ण ग्रौत्सुक्य ग्रौर कर्तव्य-परायणता दर्शनीय है। दूसरे दिन साथ ले चलने की भी वालकृष्ण नन्द की दुहाई देकर वलदाऊ से ग्रपील कर देते हे—

वृन्दावन देख्यौ नँद नन्दन, ग्रतिहि परम सुख पायौ।
जहँ-जहँ गाइ चरत ग्वालनि सँग, तहँ-तहँ ग्रापुन धायौ।
वलदाऊ मोकौं जनि छाँडौ, सँग तुम्हारैं ऐहौं।
कैसेहुँ ग्राज जसोदा छाड्यौ, काल्हि न ग्रावन पैहौं।
सोवत मोकौं टेरि लेहुगे, वावा नन्द—दुहाई।

—सूरसागर-दशमस्कन्ध ॥४१५॥

वन से लौटने की शोभा मे गोपद-रज की ही प्रधानता है। सुवह को देर न हो जाय इसी कारण वालकृष्ण रात भर जगते रहने का सकल्प करते है। वालको को जव कही सवेरे जाना होता है तव वे ऐसा ही सकल्प करते है, फिर चाहे वह सकल्प पूरा न हो। कृष्ण को घर वैठा रहना नही भाता है। वालक की स्पर्द्धा जागृत हो उठती है ग्रौर वालक गाय चराने जायँ ग्रौर वालकृष्ण घर वैठे रहे, यह कैसे हो सकता है। माता रात भर जगने के सकल्प को सुनते ही सुवह को वन जाने की ग्राज्ञा दे देती हे—

ग्राजु न सोवौं नन्द दुहाई, रैनि रहौगो जागत।
ग्रौर ग्वाल सव गाइ चरैहें, मैं घर वैठो रैहौं?

—सूरसागर-दशम स्कन्ध ॥४२०॥

यशोदा माता वालक को वन मे जाने से रोकती ग्रवश्य है, किन्तु मन ही मन ऐसे उत्साही ग्रौर साहसी वालक की सराहना करती है ग्रौर देव-ताग्रो को धन्यवाद देती है।

गो-चारण के प्रसग मे सूरदासजी गायो के नाम गिनाना भी नही भूले है। नामो से गौग्रों का व्यक्तित्व ग्रौर उनके साथ निजी सम्वन्ध प्रकट होता है। ये नाम कुछ तो रगों पर ग्राश्रित है ग्रौर कुछ गुणों पर—

अपनी-अपनी गाइ ग्वाल सबै करौ इक ठौरी।
धौरी, घूमरि, राती, बोल बुलाइ चिन्हौरी।
पियरी, मौरी, गोरी, गैनी, खैरी, कजरी जेती।
दुलही, फुलही, भौरी, भूरी, हॉकि ठिकाई तेती।

—सूरसागर-दशम स्कन्ध ।।४४५।।

गो-चारण के सम्बन्ध मे सूर ने वन-भोज का भी वर्णन किया है। वन-भोज मे पूर्ण साम्य-भाव ही नही, वरन् किसी अश मे मर्यादा का भी उल्लघन है। बालकृष्ण अपनी पत्तल का नही खाते है, दूसरे से कौर छीन-छीनकर खाते है।

प्रेम मे मर्यादा नही रहती है। वैसे भी पराई पत्तल का भात अच्छा लगता है। वन-भोज का एक शब्द-चित्र देखिए—

ग्वाल मडली मे बैठे मोहन बट की छाँह,
दुपहर बेरिया सखानि सग लीने।
एक दूध, फल, एक झगरि चवैंना लेत
निज-निज कामरी के आसननि कीने।
जैवतऽरु गावत है सारग की तान कान्ह,
सखनि के मध्य छाक लेत कर छीने।

—सूरसागर-दशम स्कन्ध ।।४६७।।

यहाँ तक ही नही मुँह से जूठा लेकर भी खाने का सूरसागर मे उल्लेख हुआ है—

जूठौ लेत सबनि के मुख कौ, अपने मुख लै नावत ।।

—सूर सागर—दशमस्कन्ध ।।४६८।।

इसी गो दोहन-व्यापार मे प्रेम-व्यापार भी चल पडता है। कृष्णजी राधा के यहाँ गाय दुहने जाने लगते है और हास्य-विनोद छिडता है। कृष्ण एक धार दोहनी मे गिराते है, एक राधा के ऊपर। कभी राधा को दोहनी लौटाकर नही देते, वह हा-हा करती है। कृष्ण को यह देखकर सुख होता है—

धेनु दुहत अति ही रति बाढी।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढी।

—सूरसागर—दशमस्कन्ध ।।७३६।।

दुहि दीन्ही राधा की गाइ।
दोहनि नही देत कर तें, हा हा करि परै पाइ।
ज्यो ज्यो प्यारी हा हा बोलति, त्यो त्यो हँसत कन्हाइ।

—सूरसागर—दशमस्कन्ध ।।७७३।।

विहारी ने राधा से वदला लिवाया है—'वतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।' व्रज-जीवन के ये पारिवारिक चित्र वड़े मनोरम और सरस है। व्रज-जीवन के प्रायः सभी दृश्यों मे गौओं की प्रधानता है। सूरदास के प्रभु की लीला आगे भी बढती है। ग्वालिने गोरस वेचने जाती हे उनसे भी छेड-छाड चलती है।

गौएं व्रज की प्राण-शक्ति हैं, उनसे ही व्रज-जीवन इतना सरस बना हे। गो-चारण भगवान् कृष्ण की सहज-शोभा को और भी बढा देता है। गो-दोहन, दधि-माखन की लूट, गोप-गोपियो मे एक अनुपम हास्य-विनोद की तरंग उत्पन्न कर देती है। जीवन का आनन्द सूर की वाणी मे मुखरित हो उठता है। व्रज के उस लहलहाते जीवन-सौन्दर्य मे अवगाहन कर हम भी नए उत्साह का सचय कर सकते है।

[*'साप्ताहिक हिन्दुस्तान'*, ३१ अक्तूबर, ५४]

नोट—पदों के नीचे जो अङ्क दिए गए हैं वे नागरीप्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित सूरसागर के दशमस्कन्ध के अनुकूल हैं।

नए और पुराने का समन्वय

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्य नवमित्यवद्यम् ।
सन्त. परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ।।*

प्राचीन और नवीन का जो सघर्ष आज चल रहा है, वह कवि-कुल-गुरु कालिदास के समय मे भी था। लोग सदैव से नवीन को शका की दृष्टि से देखते आए है और प्राचीन समय अपनी आतङ्क भरी दूरी के कारण एक स्वर्णिम आभा धारण करता आया है।

इसके विपरीत प्रतिक्रिया भी देखी जाती है। लोग नवीन के आकर्षण मे प्राचीन को सडा-गला और अगतिशील कहते है, जो सर्प के निर्मोक (केचुली) की भाँति छोड ही देना चाहिए। प्राचीन लोग देश की सारी आपत्तियो का उत्तरदायित्व नवीनो पर रखते है और नवीन लोग प्राचीनो पर।

प्राचीनतावादी कहते है, अकाल और भुखमरी क्यो न पडे ? बीमारियाँ क्यो न आएँ ? धर्म-कर्म मे लोगो की निष्ठा नही रही, खान-पान भ्रष्ट हो गया, वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा जाती रही। गोस्वामी तुलसीदासजी कलियुग के जो लक्षण बता गए है वे सब चरितार्थ हो रहे हे। शूद्र लोग वेदो के व्याख्याता बने हुए है, घोर कलिकाल आ गया है, फिर देश की समृद्धि कहाँ से हो ?

दूसरी ओर नवीनतावादी देश की अवनति का सारा कुश्रेय प्राचीनतावादी लोगों के दकियानूसी विचारो को देते है। वे कहते हे, जमाना तेजी से बदल रहा है, बाबा आदम के समय की नीति और आचार अब काम न देगे। पश्चिमी देशो की उन्नति को देखो। हम जहाँ के तहाँ अचल खडे हुए है। स्त्रियों और शूद्रो को रूढिवादी विचारो की कारा मे निगढवद्ध किए हुए है। खान-पान और छुआछूत की एक निर्जीव परम्परा के अर्थ हीन वन्धनो ने

---

*कोई काव्य पुराना है इसलिए वह सर्वथा उत्तम ही है, ऐसा नहीं है, और न ऐसा ही है कि कोई काव्य नवीन है इसलिए वह निद्य है। सज्जन लोग परीक्षा के पश्चात् अपना मत निश्चित करते हैं। मूढ लोगों का निश्चय दूसरों पर आश्रित रहता है।

हमारे समाज को रोगग्रस्त कर रखा है। उन्नति का मूल पाश्चात्य देशों के अनुकरण में है, पुराने रीति-रिवाज बीते युग को बाते हो गई। उन्नतिशील भारत पुरातन का निर्मोक कब तक धारण किए रहेगा। 'ओल्ड ओर्डर चेंजेथ ईल्डिग प्लेस टु न्यू'। 'नई आई पुरानी को दूर करो' की माँग सर्वत्र है।

इस सघर्ष में कभी-कभी कटुता भी आ जाती है। लोग एक दूसरे को कट्टरपंथी और सकीर्ण विचारो का कहने लगते है। सिद्धान्तो और मान्यताओ के पीछे मनुष्य-मनुष्य में वैमनस्य उपस्थित हो जाता है। लोग भूल जाते हे कि सिद्धान्तो से भी बढकर मूल्य है मनुष्य की सद्भावना का। प्राचीनतावादी लोग बेचारे क्या करे! रूढि और अभ्यास से मजबूर है। वे जिस वातावरण मे पले हे उसके प्रभाव को रास्ते की धूल की तरह झाड कर नही फेंक सकते। परम्परा की दृढ शृङ्खला उनको बाँधे रहती है। पुराने रीति-रिवाज और परम्पराएँ भी उतना ही महत्त्व रखती है जितना कि नए फैशन। दोनों ही की जडे तत्कालीन समाज और वातावरण मे दूर तक फैली होती है। उनका उन्मूलन विना कष्ट और पीडा के नही हो सकता। यदि विचार पूर्वक देखा जाए तो प्राचीन और नवीन, स्थैर्य और परिवर्तन दोनो का ही महत्त्व है। पुरातन से यदि हमारा सम्बन्ध छूट जाए तो हमारा व्यक्तित्व जाता रहे और यदि नवीनता न आए तो हम जहाँ के तहाँ बने रहे। जो आज पुरातन है वह विगत कल नवीन था और जो आज नवीन है वह आगामी कल पुरातन हो जाएगा। पुरातन की ही आधार-शिला पर नवीन के भव्य भवन का निर्माण हो सकता है।

प्राचीन काल नितान्त अपरिवर्तनशील था, ऐसा नही है। हर एक युग का अलग धर्म था, हर एक युग को अलग-अलग स्मृति थी। सतयुग में मनुस्मृति तो कलयुग मे पाराशर स्मृति। या तो हम को यह स्वीकार करना पडेगा कि हमारी सहिताओ, आरण्यको, उपनिषदो, दर्शनो, भाष्यों और वृत्तियों मे उत्तरोत्तर नवीन विचार आते रहे या यह स्वीकार करना होगा कि उनमे पुनरावृत्ति और व्याख्या मात्र है। वैष्णव, जैन, बौद्ध धर्म सब वैदिक धर्म पर ही पल्लवित हुए। यदि काल-क्रम से देखा जाय तो वे भी प्राचीन हे और इस कारण आदरणीय है।

प्राचीन और नवीन समय सापेक्ष है। प्राचीनतावादियो का प्राचीन भी कभी नवीन रहा होगा। समाज जैसा आज है वैसा सदा से नही चला आया। परिवर्तन और गतिशीलता संसार का नियम है। जगत और संसार

दोनों ही शब्द गतिशीलता के द्योतक है (गच्छतीति जगत्), किन्तु गति और परिवर्तन के साथ स्थिरता और प्रगति दोनो ही अनिवार्य है। स्थिर ही परिर्वातित होता है। यदि स्थिरता न रहे तो उन्नति-क्रम मे कोई शृङ्खला न रहे और यदि परिवर्तन न हो तो उन्नति भी न हो।

यद्यपि यह बात ठीक है कि सभी परिवर्तन उन्नति की ओर नही ले जाते, तथापि बिना परिवर्तन के उन्नति भी नही होती। पूर्ण केवल परमात्मा है।

अव प्रश्न यह होता है कि कौन से परिवर्तन उन्नतिशील हे और कौन अवनतिशील ? हम उन्ही परिवर्तनो को उन्नतिशील कहेगे जो अनेकता मे एकता लाएँ, जो अधिक से अधिक कार्य-विभाजन की सम्पन्नता के साथ उद्देश्यों का एकीकरण और सयोजन उपस्थित करे। जो परिवर्तन समाज में विघटन और विच्छेद उत्पन्न करे वे ही निन्दनीय है। विशेपीकरण के साथ अधिक से अधिक पारस्परिक अनुकूलता और सहकारिता ही उन्नति का मूल सूत्र है।

परिवर्तन से हम बच नही सकते। परिवर्तन से बचना अगति और दुर्गति को आमन्त्रित करना है। यद्यपि स्थिरता मे किसी अश में सुरक्षा है, तथापि बिना जोखिम लिए आगे नही वढा जाता है। नियमो की स्थिरता जो विज्ञान मे है और स्फूर्तिमय जीवन की गतिशीलता जो साहित्य मे है, दोनो के बीच का हमे सतुलित मार्ग खोजना हैं। जीवन के सतुलनो मे नए और पुराने का सतुलन भी विशेष महत्त्व रखता है। ससार की गतिशीलता के साथ हमको भी गतिशील होना पडेगा, किन्तु आँखे मूँदकर अधकार की खाई मे कूदना शूरता नही है। हमको आगे कदम बढाना है किन्तु आँखे खोलकर। नवीन के लिए हम अपने मन मन्दिर का द्वार सदा खुला रखे, पूर्व ग्राहो से काम न ले। उसके पक्ष और विपक्ष की युक्तियो को न्याय की तुला पर तौले। एक सीमा के भीतर नए प्रयोगो को भी अपने जीवन मे स्थान दे किन्तु केवल नवीनता के प्रमाणपत्र मात्र से सन्तुष्ट न हो जायँ। जिस तर्क-बुद्धि को हम प्राचीन प्रथाओ के उन्मूलन मे लगाते है उसी निर्मम तर्क को नवीन के परीक्षण मे भी लगावे किन्तु नवीन को भूत की भाँति भय का कारण न वनावें।

प्राचीन को भी हम नितान्त हेय और त्याज्य न समझें। नई परिस्थितियो के आलोक मे उसके पुनः मूल्याङ्कन की आवश्यकता है। प्राचीन सस्कृति हमारे जलवायु के घात-प्रतिघात के फलस्वरूप बनी थी और उसका

हमारे शारीरिक संगठन और स्वभाव से अनकूलन हो चुका है। आजकल की बदली हुई परिस्थिति मे भी उसमे बहुत-कुछ संरक्षणीय है, क्योंकि उसके कुछ अंश शाश्वत तत्त्वों पर आधारित है। बुद्धिमान का कार्य है कि जो कुछ संरक्षणीय है, और जो कुछ शाश्वत नियमों पर आधारित है उसे अन्ध परम्परा के रूप मे नही, वरन् एक भावुकता भरी बौद्धिकता के साथ अपनावे। प्राचीन सस्कृति मे जो कुछ खान-पान की सफाई, रहन-सहन की सुघराईपूर्ण सादगी और पारस्परिक सौहार्द को बढाने वाली शील-विनय सम्बन्धी बाते है, वे सब ग्राह्य और उपादेय समझी जानी चाहिए। उदाहरण के लिए शौच-स्नान आदि के नियम, धुले वस्त्रों को ही पहन कर खाना आदि गीतोपदिष्ट आत्मौपम्य दृष्टि, युक्ताहार-विहार, स्वप्नावबोध के निर्देश, आत्मवत सर्वभूतेपु की शिक्षा ऐसी वस्तुएँ है जो हमारी सस्कृति मे सर्वदा सरक्षणीय मानी जा सकती है। इसमे समय और परिस्थिति के अनुकूल थोडा परिवर्तन हो सकता है किन्तु इनके हार्द को सदा मन मे बनाए रखना उचित है। हम नितान्त अपरिवर्तनवादी नही है। हमारे समाज में इतने परिवर्तन हो गए है कि उन सब पर हड़ताल नही फेरी जा सकती। ऐसा करना काल-चक्र को उलटा फिराना होगा। हमारे छुआछूत के नियम भी वैज्ञानिक सिद्धान्तो पर आधारित थे, उनमे अब भी बहुत कुछ तथ्य है किन्तु जहाँ ये तथ्य अपने मूल सिद्धान्त से विच्छिन्न होकर रूढिवाद मे परिणत हो जाते है और जहाँ ये व्यापक मानवता के विरुद्ध जाते है, वहाँ रूढि की काई को हटाकर उनको असली रूप मे देखने की आवश्यकता पड जाती है। आत्मौपम्य दृष्टि से दूसरे के स्वाभिमान की रक्षा करनी चाहिए। पवित्रता का मूल्य व्यक्ति और समाज दोनो के लिए है। हमको शुद्धता और पवित्रता के नियमों को सहृदयता पूर्वक दूसरो से भी पालन कराना वाञ्छनीय है किन्तु उसको ढोंग और आतङ्क की वस्तु न बनाना चाहिए। हमको मानवता के सिद्धान्तो को सर्वोपरि रखना होगा।

नवीन और प्राचीन के सम्बन्ध में हमको उदार दृष्टि रखने की आवश्यकता है। जहाँ हम प्राचीन रुढियो का भार सहर्ष सहन करने को तैयार हो जाते है वहाँ नवीन सामाजिक प्रचलन को हेय दृष्टि से नही देखना चाहिए, नवीनो को भी समझने की आवश्यकता है। वह भी अपने समय की प्रथाओं मे इतना ही बंधा हुआ है जितना कि प्राचीन। देखना केवल यह है कि नवीन प्रथा कहाँ तक पश्चिम के अंधानुकरण मे आई है और कहाँ तक परिस्थितियो की आवश्यकतावश।

आजकल का सामाजिक व्यक्ति रूढियो का उतना ही दास है जितना कि प्राचीन काल का। यदि हम भिन्न-भिन्न अवसरो पर अलग-अलग प्रकार के परिधान पहन कर जा सकते है और औपचारिक भोजो पर खाने के ही पोशाक मे जाते है तो क्या हम प्राचीन सस्कृति के अनुयायियो के यहाँ खाना खाते समय जूते और कीटाणु दूषित वर्षो के रखे हुए कोट उतार कर खाना नही खा सकते है। यद्यपि हम मानते है कि सफाई के साथ ब्रश की हुई पोशाक मे कीटाणुओ का भय कम होता है तथापि वह नित्य के धुलने वाले कपडे की भाँति स्वच्छ और पवित्र नही होती। पश्चिमी देशो की अपेक्षा पूर्वी देशो मे कपडे के धोने की अधिक आवश्यकता रहती है। हर समय जूते और कोट डाटे रहना गर्म देश की जलवायु के अनुकूल नही पडता। हर समय जूते और मोजे पहने रहना ठडे मुल्को की ही आवश्यकता के अनुकूल है। खाने के समय शरीर की वायु अवयवो के लिए जितने फैलने फूलने को गुजाइश हो उतना ही अच्छा है। यदि हम पाउडर क्रीम का आडम्बर सहन कर सकते है तो प्राचीन सस्कृति वाले चन्दन धारो को ढोगी समझकर हेय दृष्टि से क्यो देखे। हमको एक दूसरे को समझने की कोशिश करनी चाहिए तभी पारस्परिक सौहार्द कायम रह सकता है।

यह कहना भूल होगी कि प्राचीन सभ्यता इतनी सम्पन्न और विकसित न थी जितनी कि अब की। प्राचीन साहित्य के अध्ययन से मालूम होता है कि सब लोग कोपीनधारी ही न थे। हमारे पूर्वज भी विलास-वैभव के अभ्यस्त थे। उनका जीवन स्तर भी बहुत ऊँचा था। क्योकि उनके जीवन मे सम्पन्नता के साथ एक सतुलन था। धर्म से अर्थ और काम मे बाधा नही पडती थी और न अर्थ से काम और धर्म मे किसी प्रकार की हानि ही होती थी और न काम ही कर्म और अर्थ मे बाधक होता था। ऐसा सतुलनमय विलास-वैभव जो पूर्वजो का था वह आज भी श्रेयष्कर है।

हमने पश्चिम का अनुकरण कर अपना जातीय व्यक्तित्व खो दिया है। वेश-भूषा, खान-पान और रहन-सहन मे हम नितान्त विदेशी बन गए है। हम इस अनुकरण पर गर्व भी करते है। इस अनुकरण के लिए विदेशी लोग हमको साधुवाद नही देते है। वे हमसे वैचित्र्य और नवीनता की आशा रखते है किन्तु उन्हे निराश होना पडता है। हमने अनुकरण मे अपनी गाँठ का भी खो दिया। कही-कही तो 'कौआ चला हस की चाल अपनी भी भूल गया' की लोकोक्ति चरितार्थ होने लगती है। अनुकरण यदि सफल भी हो तो भी श्रेयष्कर नही क्योकि उसमे हमारी स्फूर्ति, सजीवता और जातीय

विशेषताओं का परिचय नहीं मिलता। हम अपना व्यक्तित्व प्राचीन के आधार पर उन्नति करके ही बनाए रख सकते है। अनुकरण करना सरल है किन्तु वर्तमान और प्राचीन का सामंजस्य करके पारस्परिक अनुकूलन द्वारा अपना विशिष्ट पथ प्रशस्त करना कठिन है। यह अनुकूलन सजीवता का चिह्न है। इस अनुकूलन द्वारा हमारी सजीवता और हमारा व्यक्तित्व दोनों ही बने रह सकते है। सायर, सिंह और सपूत की भाँति अपना नया मार्ग खोजते हुए भी लीक को आँखो से ओझल न कर देना चाहिए।